त्रैमासिक • जनवरी-मार्च 2010
इस विशेष अंक का मूल्य: 20 रुपये

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का

आह्वान

एक युद्ध देश के भीतर!
जनता के विरुद्ध!

किसका संविधान? कैसा संविधान?

पूँजीवाद के रहते पर्यावरण बचाने के
सारे प्रयास विफल होंगे

इक्कीसवीं सदी के पहले दशक का समापन:
युगान्तरकारी परिवर्तनों के दिशा-संकेतक और हमारे कार्यभार

यू.पी.ए. सरकार की अघोषित नयी शिक्षा नीति • भूख का पसरता बाज़ार
फ़ौजी दमन से आहत कश्मीर • धार्मिक पूँजीवाद के अपराध या अपराधी पूँजीवाद का धर्म
कहानी: नंगा राजा • फ़िल्म: थ्री इडियट्स

महाक्रान्ति की ताल
समय का सरगम
नूपुर परिवर्तन के
और प्रगति की संगत पर
जो जीवन नृत्य करेगा
वह नहीं मरेगा
नहीं मरेगा
नहीं मरेगा।

— हरिहर ओझा

आह्वान के बारे में कुछ महत्वपूर्ण विचारबिन्दु

➢ 'आह्वान' विपर्यय के इस कठिन अँधेरे दौर में क्रान्ति के नये संस्करण की तैयारी के लिए युवा वर्ग का आह्वान करता है। यह एक नूतन क्रान्तिकारी नवजागरण और प्रबोधन का शंखनाद करता है। यह नई क्रान्ति की नेतृत्वकारी शक्ति के निर्माण के लिए, उसकी मार्गदर्शक वैज्ञानिक जीवनदृष्टि और इतिहासबोध की समझ कायम करने के लिए और भारतीय क्रान्ति के रास्ते की सही समझदारी कायम करने के उद्देश्य से विचार-विनिमय और बहस-मुबाहसे के लिए आम जनता के विवेकशील बहादुर युवा सपूतों को आमंत्रित करता है। 'आह्वान' क्रान्ति की आत्मा को जागृत करने की ज़रूरत का अहसास है। यह एक नई क्रान्तिकारी स्पिरिट पैदा करने की तड़प की अभिव्यक्ति है। लोग यदि लोहे की दीवारों में कैद नशे की गहरी नींद सो रहे हैं, तब भी हमें लगातार आवाज लगानी ही होगी। नींद में घुट रहे लोगों के कानों तक लगातार पहुँचती हमारी आवाज कभी न कभी उन्हें जगायेगी ही। भूलना नहीं होगा कि एक चिंगारी सारे जंगल को आग लगा सकती है। 'आह्वान' ऐसी ही एक चिंगारी बनने को संकल्पबद्ध है।

➢ 'आह्वान' जिन्दगी के इस दमघोंटू माहौल को बदलने के लिए तमाम ज़िन्दा लोगों का आह्वान करता है। यह उन सभी का आह्वान करता है जो सही मायने में नौजवान हैं। जिनमें व्यक्तिगत स्वार्थ, कायरता, दुनियादारी, धन लिप्सा, कैरियरवाद और पद-ओहदे-हैसियत-मान्यता की गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के ख़िलाफ़ लड़ने का माद्दा और ज़िद है, जिनकी रगों में उष्ण रक्त प्रवाहित हो रहा है। जो न्याय, सौन्दर्य, प्रगति और शौर्य के पुजारी हैं। 'आह्वान' जनता की सेवा में लग जाने के लिए, मेहनतकश अवाम में घुलमिलकर उसकी मुक्ति का परचम थाम लेने के लिए ऐसे ही नौजवानों का आह्वान करता है। सामाजिक क्रान्तियों की कठिन शुरुआत की चुनौतियों को स्वीकारने के लिए पहले जनता के बहादुर युवा सपूत ही आगे आते हैं। इतिहास के रथ के पहिए नौजवानों के उष्ण रक्त से लथपथ हुआ करते हैं।

इस अंक में

अपनी ओर से

इक्कीसवीं सदी के पहले दशक का समापन: युगान्तरकारी परिवर्तनों के दिशा-संकेतक और हमारे कार्यभार 5

विशेष लेख

एक युद्ध देश के भीतर! जनता के विरुद्ध! 9

किसका संविधान? कैसा संविधान? 13

पर्यावरण

पूँजीवाद के रहते पर्यावरण बचाने के सारे प्रयास विफल होंगे 16

शिक्षाजगत

यू.पी.ए. सरकार की अघोषित नयी शिक्षा नीति 21

छात्र आन्दोलन से भयाक्रान्त लखनऊ विश्वविद्यालय प्रशासन द्वारा दिशा छात्र संगठन पर ग़ैर-क़ानूनी प्रतिबन्ध 28

समाज

भूख का पसरता बाज़ार 12

गोरखपुर के मज़दूर आन्दोलन के अनुभव और उसके सबक 30

धार्मिक पूँजीवाद के अपराध या अपराधी पूँजीवाद का धर्म 33

फ़ौजी दमन से आहत कश्मीर 42

टेढ़ी आँखें तिरछी नज़र

हँसे कि फँसे! 36

गतिविधि बुलेटिन

मुस्तफ़ाबाद में 'नौजवान भारत सभा' द्वारा तीन दिवसीय मेडिकल कैम्प 59

15 अगस्त को नक़ली और झूठी आज़ादी का भण्डाफोड़ अभियान 59

कहानी

नंगा राजा 38

नोबेल पुरस्कार

पूँजीवाद के तहत वैज्ञानिक मानवता के लिए नहीं बल्कि मुनाफ़े की सेवा करने के लिए अभिशप्त हैं - 46 साहित्य का नोबेल पुरस्कार कम्युनिज़्म विरोधी प्रचार मुहिम का एक अंग है - 48 दुनिया के सबसे बड़े हत्यारे गिरोह के सरगना ओबामा का "शान्ति" का नोबेल पुरस्कार!! - 48

सकर्मक विमर्श

पानी की सियासत - 49 'वाह री न्यायपालिका' - तेरी जय हो! - 50

जपो स्वदेशी-जपो स्वदेशी, पूँजी लाओ रोज़ विदेशी - 51 न उनकी जीत अन्तिम है न अपनी हार अन्तिम है! - 52

फ़िल्म

'थ्री इडियट्स': क़ामयाब होने का नया मन्त्र-'क़ाबिल बनो!'

मुक्तिकामी छात्रों युवाओं का आह्वान

वर्ष 2 अंक 1

जनवरी-मार्च 2010

सम्पादक

अभिनव

सह-सम्पादक

कविता

सज्जा

रामबाबू

एक प्रति का मूल्य

दस रुपये

(यह विशेष अंक: **बीस रुपये**)

वार्षिक सदस्यता: **80 रुपये**

द्विवार्षिक सदस्यता: **160 रुपये**

पंचवर्षीय सदस्यता: **400 रुपये**

आजीवन सदस्यता: **2000 रुपये**

सम्पादकीय कार्यालय : बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली, फोन : (011) 65976788, ईमेल :ahwan.editor@gmail.com

स्वामी, प्रकाशक, मुद्रक एवं सम्पादक अभिनव सिन्हा द्वारा रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032 से मुद्रित कराकर बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-94 से प्रकाशित किया।

पाठक मंच

अंग्रेजों ने जो अपने लूट और दोहन के साम्राज्य को कायम रखने केलिए भारत में ट्रेनों या कारखानों का निर्माण किया उन्हीं चीज़ों ने पूरे स्वतन्त्रता संग्राम में अंग्रेजों की कब्र खोदने का भी काम किया। 1947 के बाद भारत की बुर्जुआ सरकार ने भी अंग्रेजों की उन्हीं नीतियों को आगे बढ़ाया और पूँजीपतियों के सेवा के लिए ट्रेनों, कारखानों तथा तमाम अन्य चीज़ों को फैलाया शायद ये चीज़ें ही सर्वहारा क्रान्ति में इनकी कब्र खोदें।

गोरखपुर स्टेशन पर रुकने के बाद ट्रेन अपनी वास्तविक गति में आ गयी थी, मैं अपनी माँ के साथ नाश्ता निकालने में मुस्तैद था तभी डिब्बे के दूसरे कोने से कुछ अस्पष्ट आवाज कान से टकराई। दूसरे ही क्षण आवाज स्पष्ट और गुंजायमान हो गयी। अब दूसरी सभी आवाजों पर नारों का क़ब्ज़ा था। मेरे कानों में भगतसिंह का सपना, पूँजीवाद हो बर्बाद.. जैसे नारे गूँज रहे थे, और दिमाग समझदारी बनाने की कोशिश कर रहा था तभी एक नौजवान युवक ने मेरे हाथ में एक पर्चा दिया, मैं पर्चा पूरी तल्लीनता से पढ़ने लगा। दिमाग में मानों एक नयी समझदारी विकरण का विस्फ़ोट हुआ हो। दिल्ली लौटकर इसके बारे में जानने को बैचेन था। दिल्ली पहुँचकर सम्पर्क किया और हमें साथी शिवार्थ ने 'आह्वान' (जनवरी-मार्च, 09) का अंक पढ़ने को दिया। अपने मकसद के बारे में बातचीत की। उससे सम्बन्धित साहित्य भी पढ़ने को दिया। पूँजीवादी सभ्यता से उत्पन्न मानसिक गुलामी की मोटी चादर एक-एक करके उठने लगी। जैसे-जैसे अध्ययन का सिलसिला बढ़ने लगा चीज़ें स्पष्ट होने लगी, चाहे वो आतंकवाद का हौव्वा और उसके मूल कारण, विश्व आर्थिक मन्दी के कारण और उत्पन्न करने वाले तत्त्व, पूँजीवादी व्यवस्था का खूनी और निरंकुश चेहरा। कुछ दिनों पहले आह्वान का अप्रैल-जून, 09 का अंक भी मिला, क्यों है ऐसा पाकिस्तान लेख पाकिस्तान के मौजूदा स्थिति और वहाँ आंतरिक राजनीति तथा वहाँ के पूँजीवादी व्यवस्था को समझाने का क्रमबद्ध सरल और सटीक लेख था जिसकी भूरि-भूरि प्रंशसा करता हूँ। टाटा की काली करतूतें, आम जनता के प्रतिनिधियों का चुनाव..., स्माइल पिंकी : मुस्कान छीनने और देने का सच पर लिखा गया लेख रतन टाटा जैसे खूनी और लुटेरे भारतीय पूँजीपतियों का सच, भारतीय लोकतन्त्र का नंगा धनतन्त्र वाला रूप और एन.जी.ओ. पन्थी संस्थाओं की नौटंकी का सच इस पूरी खूनी व्यवस्था का पुर्जा-पुर्जा खोल कर रख देती है।

आज के दौर में यह पत्रिका नौजवानों में एक नयी क्रान्तिकारी विचारों की लहर पैदा कर रही है साथ ही साथ वैसे तमाम क्रान्तिकारी सोच को भी गोलबन्द करने का भी काम कर रही है जो भविष्य में होने वाले अवश्यम्भावी क्रान्ति में मील का पत्थर साबित होगी।

–नवीन कुमार
बेगूसराय, खगड़िया, बिहार

मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान (अप्रैल-जून, 2009) अंक मिला। काफ़ी देर से मिला। आशा है कि पत्रिका को समय से निकाल कर हमारे इन्तजार के कष्ट को कम करेंगे। चुनाव पर लिखे गए दोनों लेख भारतीय प्रजातन्त्र की चुनावी नौटंकी को बखूबी बेनकाब करते हैं। टाटा का आम आदमी और सेनगुप्ता कमेटी की रिपोर्ट एक जगह दिखायी गई है जो विज्ञापनों के बाज़ार के आम आदमी एवं आम आदमी के यथार्थ को उघाड़कर रख देती है। 'क्यों ऐसा है पाकिस्तान' वर्तमान पाकिस्तान की अवस्थिति पर एक सुस्पष्ट विचार प्रदायी लेख है। इतने पास के देश के बारे में हम लोग कितना कम जानते हैं। शासक वर्गों द्वारा प्रचारित तमाम मिथ्याधारणाओं को इस लेख ने तोड़ने का काम किया है। असल में वहाँ भी ग़रीबी है, यहाँ भी ग़रीबी है। और ग़रीबों की दुश्मन दोनों देशों के शासक वर्ग अन्धराष्ट्रवादी उन्माद फैलाकर सिर्फ़ अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। यह बहुत ज़रूरी लेख था। आपसे गुजारिश है, अपने आस-पास के देशों के बारे में और दुनिया के तमाम देशों के बारे में ऐसे महत्त्वपूर्ण लेख 'आह्वान' में आने चाहिये। यह हम नौजवानों की समझदारी को खोलने का काम करेंगे। उम्मीद है आप हमारी बात पर गौर करेंगे। 'एथेन्स में मज़दूरों का छात्रों के नाम खुला पत्र' विश्व 'छात्र-युवा' आन्दोलन का ऐतिहासिक दस्तावेज़ है और हमारे समय के आन्दोलन का ऊर्जा स्रोत–पढ़कर अच्छा लगा। नयी कलम से लखविन्दर की तीन कविताएँ स्वप्नों को ज़मीन मुहैया कराती है। 'पुस्तक समीक्षा' अगर आगामी अंकों में शामिल कर सकें तो ठीक होगा ऐसा मेरा सुझाव है।

– ब्रजेश कुमार
गुना, मध्य प्रदेश

एक अपील

'आह्वान' सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फ़ण्डिंग एजेंसियों, पूँजीवादी घरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी रूप में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। हमारी यह दृढ़ मान्यता है कि जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ़ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए।

अत: हम अपने सभी पाठकों- शुभचिन्तकों-सहयोगियों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मजबूती प्रदान करें।

– सम्पादक

पाठक मंच

भारतीय गणतंत्र में 'थ्री इडियट्स'

फ़िल्म 'थ्री इडियट्स' की इतनी तारीफ़ सुनी कि मुझमें भी उस . की उत्सुकता जागृत हुई। यह फ़िल्म भारतीय गणराज्य की स्थापना के बाद के 60 वर्षों में इसके 'सफल' लेकिन फिर भी असन्तुष्ट उन्नतिशील मध्यवर्ग की भावनाओं को अभिव्यक्ति देने का प्रयास करती है। यह आधुनिक भारत की सड़ी-गली शिक्षा व्यवस्था की कमियों की ठीक-ठीक शिनाख़्त करती है जो गोल छेद में चौकोर खूँटा फ़िट करने का प्रयास करती रहती है। इतना तो तय है कि जिस तरीक़े से आज हम लोगों को शिक्षा दी जाती है अगर मौक़ा मिले तो हममें से अधिकतर लोग उससे बुनियादी तौर पर भिन्न तरीक़े की शिक्षा पाना चाहेंगे। बेशक, परीक्षा में अच्छे नम्बर स्कोर करने की उन्मादी घुड़दौड़ और रट्टामार पढ़ाई से हम सभी नफ़रत करते हैं हालाँकि न चाहते हुए भी हमें ऐसा करना पड़ता है। लेकिन तथ्य यह है कि सबकुछ जानने के बावजूद और फ़िल्म को पसन्द करने और उसे बॉक्स-ऑफ़िस हिट बनाने के बावजूद अधिकतर 'सफल' लोग अपने रोज़मर्रा के जीवन में कैरियर और पैसा बनाने की इस घुड़दौड़ में शामिल हैं। इसका अर्थ है कि अपने आप में शिक्षा व्यवस्था ही इस समस्या का मूल नहीं है। समस्या सहस्त्रबुद्धे जैसे प्रोफ़ेसरों के नज़रिये और फ़रहान और राजू जैसे माता-पिता की ओर से बच्चों पर दबाव डालने में भी नहीं है। यहीं इस फ़िल्म की सीमा भी समझ में आती है। यह समस्या को सही ढंग से प्रकट करती है लेकिन उसके मूल में नहीं जाती; इसके बजाय यह कुछ सतही नुस्ख़े सुझाती है।

शिक्षक और माता-पिता अन्तरिक्ष में नहीं रहते; वे इसी समाज के सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिवेश में जीते हैं। उनका रवैया और व्यवहार निश्चित ही इसी परिवेशजनित मूल्यों द्वारा शासित होता है। यदि किसी समाज की आर्थिक व्यवस्था इसके सदस्यों के बीच मुनाफ़े की हवस और विवेकहीन प्रतिस्पर्द्धा पर आधरित हो, तो यह सोचना केवल एक ख़्याली बात होगी कि इससे लोगों के विचार प्रभावित नहीं होंगे। यदि किसी व्यक्ति की सफलता उसकी दौलत से मापी जायेगी न कि समाज के प्रति उसके योगदान से, तो कोई आश्चर्य नहीं कि माता-पिता बच्चों को उसी प्रकार की शिक्षा देना चाहेंगे जिससे के वे ख़ूब पैसा कमा सकें और समाज में हैसियत-रुतबा हासिल कर सकें! यदि समाज की आर्थिक व्यवस्था को समाज की ज़रूरत पूरा करने वाले मानव नहीं बल्कि सत्ताधारी वर्ग का मुनाफ़ा बढ़ाते रहने वाले आज्ञाकारी और विनीत औद्योगिक गुलामों की चाहत हो, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि शिक्षा व्यवस्था को इसी प्रकार ढाला जायेगा कि वह बेहतर मनुष्य बनाने के बजाय अधिक कुशल इन्सानी मशीनें तैयार करे।

भले ही इक्का-दुक्का शिक्षकों और माता-पिता का हृदयपरिवर्तन हो जाए; भले ही रैंचो जैसे कुछ अत्यन्त प्रतिभावान व्यक्ति पैदा हो जायें और शिक्षा में कुछ-कुछ संशोधन कर दिये जायें तो भी इससे व्यापक समाज के समग्र व्यवहार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा, यदि आर्थिक ढाँचा वैसे का वैसा बना रहे और पूरी बेशर्मी के साथ लालच और स्वार्थ के मूल्यों को बढ़ावा देता रहे। समाज का प्रत्यक्ष समग्र व्यवहार केवल तभी बदला जा सकता है यदि एक बुनियादी रूप से भिन्न आर्थिक व्यवस्था स्थापित की जाये जिसका उद्देश्य लोगों की ज़रूरतों को पूरा करना हो और जो हर व्यक्ति को अपनी क्षमताओं का सम्पूर्ण विकास करने का अवसर देती हो। लेकिन इसके लिए ज़रूरी है कि इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था को ध्वस्त करके इसके स्थान पर एक क्रान्तिकारी और निष्पक्ष व्यवस्था स्थापित की जाये जिसमें समाज की ज़रूरतों की पूर्ति के लिए लोग एकजुट होकर काम करें और इस प्रक्रिया में अपनी सम्पूर्ण क्षमता का सदुपयोग करें।

शायद बाज़ार और मुनाफ़े के लिए बनायी गयी एक फ़िल्म से मैं कुछ ज़्यादा ही अपेक्षा कर रहा हूँ। आमिर ख़ान या विधु विनोद चोपड़ा कोई ऐसी फ़िल्म क्यों बनायेंगे या चेतन भगत कोई ऐसी किताब क्यों लिखेंगे जो इस आर्थिक ढाँचे पर प्रहार करे या इसे ध्वस्त करने के लिए प्रेरित करे? आख़िरकार इस व्यवस्था से उन्हें ही तो लाभ होता है! यह आर्थिक ढाँचा ही तो उनकी विलासितापूर्ण जीवनशैली की गारण्टी देता है और करोड़ों विपन्न भारतीयों की तुलना में उन्हें 'सफलता' के ख़िताब से नवाज़ता है।

इससे क्या फ़र्क़ पड़ता है कि आज़ादी मिलने के 62 साल बाद भी इसी व्यवस्था में 40 करोड़ भारतीय भुखमरी रेखा (जिसे शिष्ट भाषा में ग़रीबी रेखा कहा जाता है) से नीचे रह रहे हैं; क्या फ़र्क़ पड़ता है कि इसी व्यवस्था में 46 प्रतिशत बच्चे सिर्फ़ इसलिए कुपोषण के शिकार हैं कि उनके माता-पिता हाड़तोड़ मेहनत करने के बावजूद उनका पेट नहीं भर पाते; क्या फ़र्क़ पड़ता है कि करोड़ों बच्चों की पढ़ाई केवल इसलिए छूट जाती है कि उनके माता-पिता उनकी शिक्षा का ख़र्च नहीं उठा सकते; यह उनका सिरदर्द नहीं है कि 77 प्रतिशत भारतीय जनता 20 रुपया रोज़ से कम पर गुज़ारा करती है जबकि दालों की क़ीमत 90 से 100 रुपया प्रति किलो तक पहुँच गयी है।

कोई आश्चर्य नहीं कि समस्या की जड़ में जाने की विफलता के कारण फ़िल्म 'ऑल इज़ वेल' (सब बढ़िया है) के रहस्यपूर्ण विभ्रम का प्रचार करती है जैसा कि लोगों की समस्याओं का निवारण करने में असफल होने पर भारतीय 'गणतंत्र' (वास्तव में धनिकतंत्र) के शासक करते हैं। लेकिन देश का शासक वर्ग और यह फ़िल्म दोनों एक काम अवश्य करते हैं – वे लोगों की उम्मीदों को आसमान तक ऊँचा उठा देते हैं, जिसे पूरा करने में यह व्यवस्था एकदम निकम्मी साबित होती रही है। यही वह चीज़ है जिससे कुछ सकारात्मक होने

की उम्मीद की जा सकती है क्योंकि लोगों की बढ़ती आकांक्षाओं को पूरा कर पाने में विफल होने पर इस ढाँचे का भहराकर गिर जाना और उसके स्थान पर एक न्यायपूर्ण व्यवस्था का बनना निश्चित है। यह व्यवस्था 'इडियटों' को लम्बे समय तक मूर्ख़ बनाती नहीं रह सकती। वास्तव में 'इडियटों' के पास इसके अलावा और कोई विकल्प भी नहीं है कि वे इस व्यवस्था के क्रान्तिकारी रूपान्तरण के लिए संघर्ष करें, तभी वे अपनी क्षमताओं को साकार कर सकेंगे और भावी पीढ़ियों को यह मौक़ा दे सकेंगे कि वे अपनी पसन्द की शिक्षा और पेशे का चुनाव कर सकें। केवल ऐसी क्रान्तिकारी उम्मीद ही हमें चारों तरफ़ फैले अन्धकार में उजाले की किरण दिखा सकती है।

– आनन्द सिंह
पुणे

आपकी पत्रिका मिली। अच्छी लगी। नौजवानों को सामाजिक बदलाव की लड़ाई में डटे देखकर अच्छा लगता है। कोई कविता से, कोई कहानी से, कोई लेखों से बाज़ार व्यवस्था से लड़ने में लगे हैं। मैं हिमाचल प्रदेश के प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़ा हूँ। समय निकालकर प्रगतिशील पत्र-पत्रिकाओं को जन-जन तक पहुँचाने में लगा हूँ। कि विचार फैलेंगे तो काम करेंगे। हम चाहते हैं कि आपकी 'आह्वान' भी नौजवान आबादी तक ले जाया जाये। तथैव आप कम-अज-कम 5 प्रतियाँ वितरित करने हेतु हर अंक भेज दिया करे। हमारी प्रति अलग से। उसकी सदस्यता राशि मनीऑर्डर से प्रेषित कर रहा हूँ।

– सुरेश सेन 'निशांत'
मण्डी, हिमाचल प्रदेश

घोषणापत्र का प्रपत्र : प्रपत्र 4 (नियम 8 के अन्तर्गत)

समाचार पत्र का नाम	मुक्तिकामी छात्रों-युवाओं का आह्वान
पत्र की भाषा	हिन्दी
आवर्तिता	द्वैमासिक
पत्र का खुदरा बिक्री मूल्य	दस रुपये
प्रकाशक का नाम	अभिनव सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094
प्रकाशन का स्थान	करावल नगर, दिल्ली
मुद्रक का नाम	अभिनव सिन्हा
पता	बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094
मुद्रणालय का नाम	रुचिका प्रिण्टर्स, I/10665, सुभाष पार्क, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32
सम्पादक का नाम	अभिनव सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094
स्वामी का नाम	अभिनव सिन्हा
राष्ट्रीयता	भारतीय

मैं अभिनव सिन्हा, यह घोषणा करता हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर
(अभिनव सिन्हा)
प्रकाशक, मुद्रक, स्वामी

आह्वान यहाँ से प्राप्त करें

उत्तर प्रदेश • जनचेतना, जाफ़रा बाज़ार, गोरखपुर, • जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ • जनचेतना स्टॉल, कॉफ़ी हाउस के पास, हजरतगंज, लखनऊ (शाम 5 बजे से 8.30 तक) • शहीद पुस्तकालय द्वारा डॉ. दूधनाथ, जनगण होम्यो सेवा सदन, मर्यादपुर, मऊ • प्रोग्रेसिव बुक स्टॉल, विश्वनाथ मंदिर गेट, बी.एच.यू. वाराणसी • करेंट बुक डिपो, 18/53, माल रोड, गूलबाग के सामने, कानपुर। **दिल्ली** • अभिनव सिन्हा, बी-100, मुकुन्द विहार, करावल नगर • पूरन, रूम नं. 32, हिन्दू कॉलेज हॉस्टल, नॉर्थ कैम्पस, दिल्ली विश्वविद्यालय • पी.पी.एच., जे.एन.यू. • गीता बुक सेंटर, जे.एन.यू. • यू. स्पेशल : दि यूनिवर्सिटी बुकशॉप, नॉर्थ कैम्पस, दिल्ली विश्वविद्यालय। **बिहार** • श्री रामनारायण राय (शिक्षक), प्रोफ़ेसर कॉलोनी, सी.एन. कॉलेज साहेबगंज, पो.-करनौल, जिला मुजफ्फ़रपुर • डॉ. गिरिजाशंकर मोदी, 'शब्दसदन', सिकंदरपुर, मिरजानहाट, भागलपुर • वाणी प्रकाशन, पटना कॉलेज के सामने, अशोक राजपथ, पटना, बिहार • मैगजीन कॉर्नर, दिनकर चौक, नालारोड, पटना। **राजस्थान** • चन्द्रशेखर, लोकायत प्रकाशन, 883, लोधो की गली, एम.डी. रोड, जयपुर • शैलेन्द्र चौहान द्वारा शिवराम सं. 'अभिव्यक्ति', 4/पी/46, तलवण्डी, कोटा • ओ.पी. गुर्जर, 137, गोल्फ़ कोर्स स्कीम, एयर फ़ोर्स, जोधपुर। **हरियाणा** • डॉ. सुखदेव हुंदल, ग्रामपोस्ट संतनगर वाया जीवन नगर, सिरसा। **महाराष्ट्र** • सनी/प्रशांत, रूम नं.-152, हॉस्टल नं.-6, आई.आई.टी. मुम्बई, पवई, मुम्बई • वी. पी. सिंह, बी-5, संकष्टि कोआपरेटिव हाउसिंग सोसायटी, हाजी मलंग रोड, चक्की नाका, कल्याण, महाराष्ट्र • पीपुल्स बुक हाउस, मेहरजी हाउस, 15, कावसजी पटेल स्ट्रीट फ़ोर्ट, मुम्बई। **पंजाब** • सुखविन्दर, 154, ओम बेकरी के सामने, शहीद करनैल सिंह नगर, फ़ेज-3, पखोवाल रोड, लुधियाना • पंजाब बुक सेण्टर, SLO-1126-27, सेक्टर - 22 बी चण्डीगढ़। **पश्चिम बंगाल** • पुस्तक केन्द्र, भारतीय भाषा परिषद, 36ए, शेक्सपियर सरणी, कोलकाता • मिथलेश कुमार, के-185, बी. पी. टाउनशिप, कोलकाता • न्यू होराइजन बुक ट्रस्ट, 57/1, पटुआ टोला लेन, कोलकाता • बुक मार्क, 6, बंकिमचन्द्र चटर्जी स्ट्रीट, कोलकाता। **मध्यप्रदेश** संजय बुक स्टॉल, शाप नं. 43, ग्वालियर। **हिमाचल प्रदेश** • सुरेश सेन 'निशांत', गाँव सलाह, डाक. सुन्दरनगर-1, जिला- मण्डी।

इक्कीसवीं सदी के पहले दशक का समापन: युगान्तरकारी परिवर्तनों के दिशा-संकेतक और हमारे कार्यभार

वर्ष 2009 बीत गया और साथ ही 21वीं सदी का पहला दशक भी। यह पूरा दशक ऐतिहासिक रूप से कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का दशक रहा। इस पूरे दौर में विश्व भर में उथल-पुथल ला देने वाली घटनाओं का आधिक्य रहा। नये दशक के मोड़-बिन्दु पर खड़ा समय कई युगान्तरकारी परिवर्तनों की ओर इशारा कर रहा है। बीता दशक पूँजीवाद के लिए 'असफलताओं का दशक' रहा। 1990 के दशक में पूँजीवाद सोवियत संघ के नामधारी समाजवाद के पतन और अमेरिकी साम्राज्यवाद की ताक़त के बाह्य रूप के तौर पर बढ़ने के साथ ज़बरदस्त आत्मविश्वास से भर गया था। हर्षातिरेक में फ़ुकोयामा सरीखे पूँजीवाद के टुकड़खोर टकसाली टीका-टिप्पणीकार 'उदार पूँजीवादी जनतन्त्र की अन्तिम विजय', 'इतिहास का अन्त', 'विचारधारा का अन्त' आदि की घोषणाएँ करने लगे थे। लेकिन 1990 के दशक का तीन-चौथाई हिस्सा बीतते-बीतते इन घोषणाओं के स्वर से उसी प्रकार हवा निकल गयी जैसे कि पुराने हवा वाले ग्रामोफ़ोन से हवा निकल जाती है। 1997 में दक्षिण एशियाई संकट, उसके बाद 'डॉट-कॉम क्रैश', उसके बाद 'हाउसिंग बबल' का फटना, फिर 'सबप्राइम संकट' – तब से विश्व पूँजीवाद के मुखियाओं को साँस लेने का अवसर नहीं मिला है। तीन वर्ष पहले जब फ़ुकोयामा भारत आया तो उसे 1990 के दशक की शुरुआत में कहे गये अपने शब्द याद नहीं रह गये थे। वही शख़्स जिसने समाजवाद, मार्क्सवाद आदि की मृत्यु की घोषणा कर दी थी अब मार्क्सवाद को पूँजीवादी जनवाद के लिए सबसे बड़ा ख़तरा बता रहा था। सच है, समाजवाद का हौवा एक बार फिर समस्त पूँजीवादी विश्व को सता रहा है!

विश्व पूँजीवाद बड़ी मरी-गिरी सेहत में 21वीं सदी के दूसरे दशक में प्रवेश कर रहा है। पिछला दशक उसके असाध्य रोगों और संकटों के नाम रहा जिससे वह अभी तक उबर नहीं पाया है। बीते दशक में कुछ ऐतिहासिक महत्त्व के विकास हुए जिन पर चर्चा करना ज़रूरी है। इन परिवर्तनों पर चर्चा हम कालानुक्रम के अनुसार नहीं करेंगे, वरन् ऐतिहासिक महत्त्व के अनुसार करेंगे।

पहला सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन जिसने इस दशक के चरित्र का निर्धारण करने वाले सबसे महत्त्वपूर्ण कारक की भूमिका निभायी वह थी 2006 से शुरू हुई मन्दी जिससे अभी तक विश्व पूँजीवाद उबर नहीं पाया है। जैसा कि हम जानते हैं, यह 1930 के दशक के बाद की सबसे भयंकर मन्दी है। करोड़ों मज़दूर अब तक इस मन्दी में अपना रोज़गार खो चुके हैं, हज़ारों बैंक तबाह हो चुके हैं, लाखों छोटे निवेशक बर्बादी के कगार पर पहुँच गये हैं, तमाम देशों की अर्थव्यवस्थाएँ असमाधेयता के संकट का शिकार हो चुकी हैं या होने के कगार पर हैं, ग्रीस, इटली और पुर्तगाल जैसे यूरोप के कम विकसित देशों में भी खाद्यान्न दंगे हो रहे हैं, अभी अफ़्रीका, एशिया और लातिनी अमेरिका के देशों की तो बात ही छोड़ दी जाय, विश्व में बेरोज़गारी अभूतपूर्व दर से बढ़ी है। ये सभी चीज़ें विश्व की मेहनतकश जनता और न्यायप्रिय नौजवानों के सामने पूँजीवाद की व्यर्थता को साबित कर रही हैं। आज इस संकट से उबरने के लिए विश्व पूँजीवाद के मुखियाओं समेत सभी पूँजीवादी देश 'कल्याणकारी' राज्य के कीन्सियाई नुस्ख़ों को आज़मा रहे हैं, लेकिन 2009 का मध्य आते-आते साफ़ हो चुका था कि अब वह युग बीत गया था जिसमें कीन्सियाई नुस्ख़े पूँजीवाद की अराजकता के दण्ड के असर को कुछ समय के लिए भी थोड़ा कम कर पाते। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के दौर में 'कल्याणकारी' राज्य के नुस्ख़े ने विश्व पूँजीवाद की लुटिया डूबने से बचाने में मदद की थी। लेकिन तब द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण हुए विध्वंस के

बाद पुनर्निर्माण के कार्य ने विश्व पूँजीवाद के झड़ते पौरुष के लिए वियाग्रा का काम किया था। लेकिन अब ऐसी कोई वियाग्रा भी काम नहीं आ रही है। इराक़ में पुनर्निर्माण के काम से अमेरिकी, ब्रिटिश, जर्मन और फ़्रांसीसी पूँजीवाद ने काफ़ी उम्मीदें लगा रखी थीं, लेकिन इराक़ी जनता के प्रतिरोध युद्ध ने इराक़ युद्ध को एक मुनाफ़े वाली मशीनरी बनाने की सारी उम्मीदों पर पानी फेर दिया। मुनाफ़ा तो दूर, इराक़ युद्ध उनके लिए ऐसे ख़र्चे का कारण बन गया जो आर्थिक संकट के साथ मिलकर इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं का मलीदा निकाल रहा है। यही कारण है कि अब अमेरिकी सैन्य रणनीति के केन्द्र में इराक़ की बजाय अफ़गानिस्तान आ गया है। लेकिन पिछले चार महीनों में साबित हो गया है कि अफ़गानिस्तान कोई 'केकवॉक' नहीं है और वहाँ भी अमेरिकी साम्राज्यवाद के पाँव धँसते जा रहे हैं। एक-एक करके अमेरिका के सारे पुराने वफ़ादार दोस्त अफ़गानिस्तान में उसका साथ छोड़ रहे हैं। कुल मिलाकर 2006 में संकट के खुलकर उभरने के बाद से विश्व अर्थव्यवस्था में उबरने का कोई निशान नहीं दिख रहा है। जिसे आज 'रिकवरी' का नाम दिया जा रहा है वह बस लोगों को एक झूठी आशा दिलाने जैसा है और इसका अर्थ वृद्धि नहीं बल्कि "ह्रास की बढ़ती दर को थामना है। और यह तथाकथित 'रिकवरी' भी इतनी नाज़ुक है कि किसी भी छोटी-मोटी घटना से डगमगा जा रही है। अभी हाल ही में बुर्ज दुबई के संकट की घटना ने पूरे विश्व की अर्थव्यवस्थाओं में आतंक की लहर दौड़ा दी थी और शेयर बाज़ारों का ग़श खाकर गिरना जारी हो गया था। एक अन्य बात यह है कि यह तथाकथित 'रिकवरी' उत्पादक निवेश से नहीं पैदा हुई है बल्कि सरकारों द्वारा दिये गये प्रोत्साहन पैकेजों से थोड़ी देर के लिए पैदा हुई है। जिस ऋण वित्तपोषित उपभोग के कारण मौजूदा संकट ने इतना गम्भीर रुख़ अख़्तियार किया है उसी से इस संकट से निजात पाने की कोशिश की जा रही है जिसकी नियति में असफलता ही हो सकती है। आर्थिक विश्लेषक अभी से कह रहे हैं कि 2010 में विश्व पूँजीवाद को एक और तगड़ा झटका लगने की पूरी उम्मीद है और यह 'रिकवरी' नक़ली है।

अगर हम विश्व पूँजीवाद की आर्थिक वृद्धि की दरों को देखें तो स्पष्ट है कि 1970 के दशक के उत्तरार्द्ध और 1980 के दशक के पूर्वार्द्ध से लेकर अभी तक उसमें गिरावट का रुझान रहा है। 1990 के दशक के मध्य के बाद से इस मन्द मन्दी में झटके भी आने लगे। 1997 के दक्षिण एशियाई संकट के बाद से 5 बड़े संकट पूँजीवाद को नींव से हिला चुके हैं। विश्व पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में तेज़ी अब एक दिवास्वप्न बन चुका है। 2000 का दशक सतत मन्दी का शिकार रहा है। इस पूरे दशक ने विश्व की जनता को इस बात का गहराई से अहसास कराया है कि विश्व पूँजीवाद उन्हें ग़रीबी, भुखमरी, कुपोषण, बेरोज़गारी और तबाही के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकता है। बीते दशक ने दिखला दिया है कि पूँजीवाद एकमात्र विकल्प क़तई नहीं हो सकता है। एकमात्र विकल्प जो विश्व की जनता के सामने है वह है पूँजीवाद को उखाड़ फेंकना और उसकी जगह एक मानव-केन्द्रित व्यवस्था का निर्माण करना जिसमें उत्पादन, राजकाज और समाज के पूरे ढाँचे पर आम मेहनतकश जनता का नियंत्रण हो और फैसला लेने की ताक़त उनके हाथों में हो। बीते दशक ने दिखला दिया है कि पूँजीवाद की ऊपरी सैन्य शक्तिमत्ता खोखली है और अन्दर से पूँजीवादी विश्व व्यवस्था बेहद कमज़ोर हो चुकी है, सड़ चुकी है और अब उसे इतिहास के कूड़ेदान में पहुँचाए जाने के लिए जनक्रान्तियों के एक सिलसिले की शुरुआत की ज़रूरत है। निस्सन्देह, यह सिलसिला शुरू करना आज भी एक भारी चुनौती बना हुआ है, ख़ास तौर पर तब जबकि नये दशक के आरम्भ-बिन्दु पर भी जनता की क्रान्तिकारी ताक़तें वैचारिक और राजनीतिक तौर पर कमज़ोर हैं, सांगठनिक तौर पर बिखरी हुई हैं और पुरानी क्रान्तियों के अन्धानुकरण की प्रवृत्ति उनकी पैरों की बेड़ी बनी हुई है। आज पूंजीवाद अपनी गतिशीलता की ताक़त पर नहीं बल्कि अपने जड़त्व की ताक़त पर टिका हुआ है। वह टिका है इसलिए वह टिका हुआ है। 21वीं सदी के पहले दशक ने दिखला दिया है कि पूँजीवादी व्यवस्था अपनी सभी सकारात्मक सम्भावना-सम्पन्नताओं से रिक्त हो चुकी है। यह बुढ़िया मुर्ग़ी अब विश्व को युद्ध, ग़रीबी, बेरोज़गारी, भुखमरी, कुपोषण आदि जैसे सड़े हुए अण्डे ही दे सकती है और इसकी उपयुक्त जगह इतिहास का कूड़ेदान है।

बीते दशक की दूसरी बड़ी परिघटना रहा अमेरिकी साम्राज्यवाद का अभूतपूर्व ह्रास। इस दशक की शुरुआत में अमेरिका के वर्ल्ड ट्रेड सेण्टर पर हमला हुआ और उसे आधार बनाकर जॉर्ज बुश की सरकार ने अलक़ायदा के आतंकी नेटवर्क के ख़ात्मे के लक्ष्य के नाम पर इराक़ पर एक अन्यायपूर्ण युद्ध थोप दिया। अमेरिकी साम्राज्यवाद ने अपनी प्रचार मशीनरी के ज़रिये पूरी दुनिया के दिमाग़ में यह बात बिठाने की कोशिश की कि इराक़ के पास जनसंहार के हथियार हैं और वह विश्व शान्ति के लिए ख़तरा है। आज सारी दुनिया जानती है कि यह एक झूठा प्रचार था और इराक़ के पास जनसंहार के कोई हथियार नहीं निकले। इराक़ युद्ध अपने संकट से उबरने के लिए इराक़ की अकूत तेल सम्पदा पर क़ब्ज़े के लिए साम्राज्यवाद द्वारा इराक़ी जनता पर थोपा गया साम्राज्यवादी युद्ध था। इस युद्ध में अमेरिका को शर्मनाक रणनीतिक हार का सामना करना पड़ा है और अमेरिकी साम्राज्यवादी वहाँ से मुँह छिपाकर भागने को मजबूर हो रहे हैं। लेकिन साम्राज्यवादी अपनी पुरानी भूलों से सबक़ लेना भूल चुके हैं और अब अमेरिकी साम्राज्यवाद अफ़ग़ानिस्तान में वही ग़लती कर रहा है जो वह इराक़ में कर चुका है। अफ़ग़ानिस्तान में अमेरिका बुरी तरह फँस चुका है। बिन लादेन का पकड़ना एक मृग मरीचिका बन चुका है और हताशा और बेख़याली में बौखलाया साम्राज्यवाद अपने पाँव अफ़गानिस्तान में फँसा चुका है। इस तथाकथित आतंक-विरोधी

युद्ध ने दिखला दिया है कि सैन्य ताक़त के बूते पर साम्राज्यवाद विश्व विजय के सपने नहीं पूरे कर सकता। उसकी सैन्य ताक़त को जनता के सामने मुँहकी खानी पड़ती है। किसी अर्थपूर्ण विकल्प की अनुपस्थिति में अगर जनता साम्राज्यवाद से जीत नहीं सकती तो वह साम्राज्यवाद के सामने घुटने भी नहीं टेकती है। मध्य-पूर्व साम्राज्यवाद के लिए एक नासूर बन चुका है। मध्य-पूर्व में फँसे होने के कारण अमेरिकी साम्राज्यवाद लातिनी अमेरिका पर उस तरह से ध्यान नहीं दे पा रहा है जिस तरह वह पहले देता रहा है। अमेरिकी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ नफ़रत के कारण लातिन अमेरिकी जनता ने कई देशों में ऐसी सत्ताएँ स्थापित की हैं जो अमेरिकी साम्राज्यवाद का मख़ौल उड़ा रही हैं और उसके प्रभुत्व को चुनौती दे रही हैं। निश्चित तौर पर, इन सत्ताओं को समाजवादी सत्ताएँ नहीं कहा जा सकता है, हालाँकि वे समाजवादी जुमलों का इस्तेमाल करती हैं। वेनेज़ुएला में शावेज़ और बोलीविया में इवो मोरालेस की सत्ताएँ कई ऐसी नीतियाँ लागू कर रही हैं जो जनता को उनकी बुनियादी आवश्यकताएँ सहज उपलब्ध करा रही हैं। अमेरिकी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ ज़बरदस्त जनभावना के कारण इन सत्ताओं को जनता का व्यापक समर्थन प्राप्त है। लातिनी अमेरिका में होने वाले इन परिवर्तनों पर अलग से चर्चा की आवश्यकता होगी। लेकिन निश्चित रूप से ये सत्ताएँ अमेरिकी साम्राज्यवाद को मुँह चिढ़ा रही हैं और साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ जनता की नफ़रत को अभिव्यक्ति दे रही हैं। अमेरिकी साम्राज्यवाद की अजेयता का तिलिस्म टूटने के साथ ही, विश्व की उभरती हुई ताक़तें भी अमेरिकी वर्चस्व को ठेंगा दिखा रही हैं। हाल ही में, अमेरिकी शह पर दक्षिण ओसेटिया पर जॉर्जिया द्वारा किये गये हमले को रूस ने मुँहतोड़ जवाब देते हुए कुचल दिया। रूस उभरती हुई साम्राज्यवादी ताक़त के रूप में अपने हितों को सुरक्षित कर रहा है और विश्व पैमाने पर अपने साम्राज्यवादी दावे को मज़बूत करने की लम्बी तैयारी कर रहा है। यूरोपीय संघ फ़िलहाल रूसी चुनौती से निपटने के लिए अमेरिका के साथ खड़ा है। लेकिन उसकी अपनी शर्तें और प्राथमिकताएँ हैं और अमेरिका के साथ उसका यह गँठजोड़ अस्थायी प्रकृति का है। चीन की बढ़ती आर्थिक शक्तिमत्ता उसे साम्राज्यवादी चौधराहट में हिस्सेदारी के लिए उसकी दावेदारी को सबसे मज़बूत बना रही है। मन्दी के दौरान भी चीन ने उपभोक्ता उपभोग के लिए कम प्रोत्साहन पैकेज दिया और अवसंरचना निर्माण के लिए अधिक। स्पष्ट है कि चीन लम्बी तैयारी कर रहा है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि अमेरिकी साम्राज्यवाद के नेतृत्व में एकध्रुवीयता का मिथ छिन्न-भिन्न हो चुका है, जिसे प्रभात पटनायक और एजाज़ अहमद जैसे नामी-गिरामी मार्क्सवादी सिद्धान्तकार भी प्रचारित कर रहे थे। यह बात दीगर है कि अब वह अपने शब्दों को ही खाने के लिए मजबूर हो गये हैं। विश्व पैमाने पर कई पूँजीवादी गुटबन्दियाँ उभर चुकी हैं। ये अपने हितों को हर अन्तरराष्ट्रीय पूँजीवादी मंच पर ज़ोर के साथ रख रही हैं और उस पर समझौता करने को तैयार नहीं हैं। पर्यावरण सुरक्षा के सवाल पर हुए कोपेनहेगेन सम्मेलन की असफलता भी इसी बात को दिखलाती है जो कुछ दिनों के भीतर ही कोपेनहेगेन से 'टोकेनहेगेन' और फिर 'ब्रोकेनहेगेन' में तब्दील हो गया।

बीते दशक में एक और बात का अंहसास और अधिक गहरा हो गया। पहले भी इस बात पर काफ़ी चर्चा और शोध हो चुका था कि पूँजीवाद पर्यावरण का विनाश कर रहा है और तमाम मानवतावादी और पर्यावरणवादी अपीलों के बावजूद पूँजीवाद की चौहद्दी के भीतर पर्यावरण की सुरक्षा की बात करना बेमानी है। 21वीं सदी के पहले दशक में ग्लोबल वॉर्मिंग, ग्लेशियरों के पिघलने और समुद्र के जलस्तर में बढ़ोत्तरी, ओज़ोन परत के छेद के बड़ा होने, जंगलों की बेतहाशा कटाई और रेगिस्तान के बढ़ने के साथ दुनियाभर की जनता के सामने यह तथ्य साफ़ है कि पर्यावरण का यह विनाश और उसके भयंकर प्रभाव अब जिस अनुपात में पहुँच रहे हैं वह ख़तरनाक है। अगर समय रहते इस आदमख़ोर व्यवस्था को नष्ट करके एक जनपक्षधर मानव-केन्द्रित व्यवस्था का निर्माण नहीं किया गया तो पूँजीवाद अपनी मुनाफ़े की हवस में मानवता और पर्यावरण दोनों को ही अपूरणीय क्षति पहुँचा चुका होगा। रोज़ा लक्ज़ेमबर्ग ने पिछली सदी में कहा था कि मानवता के सामने दो विकल्प हैं: समाजवाद या बर्बरता। आज हम कह सकते हैं कि मानवता के सामने दो विकल्प हैं: समाजवाद या विनाश। लेकिन हम विनाशवादी नहीं हैं जो पूँजीवाद द्वारा जारी पर्यावरण के विनाश से हताशा के गर्त में समा गये हैं। हमें मानवता के ऐतिहासिक विवेक पर यक़ीन होना चाहिए। ऐसे किसी भी विनाश से पूर्व पूँजीवाद का विनाश करने के लिए मानवता उठ खड़ी होगी। न क्योटो प्रोटोकॉल विश्व को पर्यावरण विनाश से बचा पाया था और न ही कोपेहेगेन बचा पायेगा। विश्व को इससे बचाने का माद्दा सिर्फ़ जनक्रान्तियों और उनके ज़रिये मेहनतकश जनता की सत्ताओं की स्थापना में है। जो भी पर्यावरण के विनाश को लेकर परेशान और चिन्ति हैं वे समझ रहे हैं कि जिस पर्यावरण विनाश को पूँजीवादी मीडिया मानवजनित विनाश बताता है वह वास्तव में मानवजनित विनाश नहीं बल्कि पूँजीवाद-जनित विनाश है और इसे पूँजीवाद के विनाश से ही रोका जा सकता है, और न सिर्फ़ रोका जा सकता है बल्कि पर्यावरण को कई अर्थों में पुनर्निर्मित भी किया जा सकता है।

21वीं सदी का पहला दशक लम्बे समय से सोये हुए और निराशा के गर्त में पड़े पूँजीवाद-विरोधी जनान्दोलनों के पुनर्जागरण का भी साक्षी बना है। इस दशक में विश्व के तमाम कोनों में मज़दूर आन्दोलनों, छात्र-युवा आन्दोलनों, नारी आन्दोलन, अश्वेत मुक्ति आन्दोलन और उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं के आन्दोलनों का नया उभार देखने को मिला है। पूँजीवाद के प्रकोपों से बेचैन जनता राहें टटोल रही है। यह सच है कि आज जनता की क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी शक्तियाँ राजनीतिक-वैचारिक

तौर पर बहुत कमज़ोर हैं, सांगठनिक तौर पर छिन्न-भिन्न हैं, पुरानी क्रान्तियों का अन्धानुकरण करने की प्रवृत्ति से उन्हें अभी छुटकारा नहीं मिला है, लेकिन यह भी सच है कि विश्व के तमाम हिस्सों में तमाम नये प्रयास और प्रयोग भी हो रहे हैं और इंक़लाबी ताक़तें अतीतग्रस्ता को छोड़कर नये की खोज करने के प्रयत्नों में भी लग रही हैं। क्रान्तिकारी हिरावल ताक़तों के बीच नयी सदी की नयी क्रान्तियों को लेकर बहस-मुबाहसे भी जारी हैं। उम्मीद की जा सकती है कि नये प्रयोगों और इन बहस-मुबाहसों से नयी राह फूटेगी। जनता अपने सफल-असफल प्रयासों से सीखेगी और आगे बढ़ेगी। पूँजीवाद की अजरता-अमरता के तिलिस्म के ध्वस्त होने, उसके खोखलेपन के नग्न रूप में सामने आने और जनान्दोलनों के नये सिरे से शुरू होने के साथ नये दशक में आशा के नये स्रोत देखे जा सकते हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि 21वीं सदी के पहले दशक ने इस बात को फिर से साबित किया है कि यह सदी निर्णायक परिवर्तनों की सदी होने जा रही है। युगान्तरकारी बदलावों की घड़ी इस सदी में हमारा इन्तज़ार कर रही है। लेकिन ये परिवर्तन स्वयं नहीं होने जा रहे हैं। ये क्रान्तिकारी ताक़तों के सूक्ष्मतम, सर्वाधिक विकसित, और व्यापकतम उपयोग की माँग करेंगे। नयी क्रान्तियों का मार्ग अन्वेषित करने के लिए सिद्धान्त और प्रयोग के अनगिन प्रयोग करने होंगे और इन्हीं के परिणामस्वरूप हम निर्णायक क्रान्तियों को अंजाम देने की मंज़िल तक पहुँच सकते हैं। इतिहास के इस महासमर में अगर छात्र और युवा अपनी भूमिका तय नहीं करते तो यह सम्भव नहीं हो सकता है। जनपक्षधर उन्नत छात्रों-युवाओं को अतीत की क्रान्तियों के ज्ञान से लैस होना होगा, मौजूदा दुनिया को समझना होगा, जनता के संघर्षों से जुड़ना होगा, उन्हें नेतृत्व देना होगा और अपनी भूमिका को तय करना होगा। वरना एक बार फिर परिवर्तन की घड़ी निकल जाएगी, इतिहास हमारे तैयार होने का इन्तज़ार नहीं करेगा और अगर यह घड़ी निकल गयी तो हमारी सज़ा होगी फ़ासीवाद, जो इस बार और बर्बर, मानवद्रोही, और क्रूर रूप में आएगा। जो घड़ी क्रान्तिकारी सम्भावनाओं से भरी होती है, वही प्रतिक्रियावादी ख़तरों से भी भरी होती है। पूँजीवाद के संकट से दो रास्ते फूटते हैं। एक मानवकेन्द्रित मेहनतकश सत्ता और व्यवस्था की तरफ़ जाता है और दूसरा पूँजीवाद की नग्नतम और बर्बरतम फ़ासीवादी तानाशाही की तरफ़। तय हमें करना है कि हम इतिहास की दिशा को अपने बलिष्ठ हाथों से किस ओर मोड़ते हैं। हमें यक़ीन है कि इस देश का और दुनिया का युवा इतिहास द्वारा सौंपे गये इस चुनौतीपूर्ण कार्यभार से नज़रें नहीं चुरायेगा।

नया वर्ष नयी उम्मीदों, नये सपनों, नयी उड़ानों के नाम! लड़ने की ज़िद के नाम! न्याय और समानता के संघर्ष के नाम! उड़ने को आतुर युवा पंखों के नाम! दुनिया को समझने और उसे बदलने के नाम!

आह्वान पुस्तिका शृंखला के तहत प्रकाशित

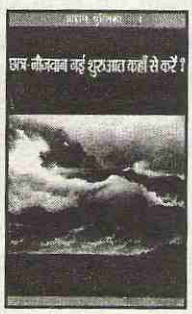

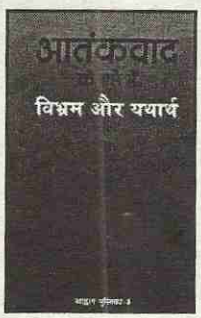

1. छात्र-नौजवान नयी शुरुआत कहाँ से करें?
2. आरक्षण : पक्ष, विपक्ष और तीसरा पक्ष
3. आतंकवाद के बारे में : विभ्रम और यथार्थ
4. क्रान्तिकारी छात्र-युवा आन्दोलन: एक नयी शुरुआत से जुड़े कुछ सवाल और कुछ बुनियादी समस्याएँ
5. प्रेम, परम्परा और विद्रोह – कात्यायनी

मूल्य : पुस्तिका 1 से 3: 10 रुपये, पुस्तिका 4: 15 रुपये, पुस्तिका 5: 25 रुपये

प्राप्त करने के लिए संपर्क करें: आह्वान कार्यालय या

जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226020

एक युद्ध देश के भीतर! जनता के विरुद्ध!

स शिशिर

23 दिसम्बर को 22वें 'इण्टेलिजेंस ब्यूरो सेण्टेनरी एण्डाउमेण्ट लेक्चर' में गृह मन्त्री पी. चिदम्बरम ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही। उन्होंने कहा कि भारत को एक राष्ट्र के तौर पर जिन सुरक्षा चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है उनके मद्देनज़र गृह मन्त्रालय को दो हिस्सों में बाँट दिया जाना चाहिए। या तो गृह मन्त्रालय से अलग एक आंतरिक सुरक्षा का मन्त्रालय होना चाहिए जो देश के भीतर के ख़तरों से निपटे, या फिर बाहरी ख़तरों से निपटने के लिए एक अलग मन्त्रालय होना चाहिए ताकि गृह मन्त्रालय आंतरिक सुरक्षा पर विशेष ध्यान दे सके। पिछले कुछ महीनों से "वामपन्थी" उग्रवाद से निपटने के नाम पर देश के भीतर जनता के विरुद्ध जो युद्ध भारत की राज्यसत्ता ने छेड़ रखा है, उसके सन्दर्भ में यह एक ग़ौरतलब कथन है। लेकिन यह कोई नयी अवधारणा नहीं है जिसके जनक चिदम्बरम हों। यह अमेरिका की नक़ल है। अमेरिका में 'डिपार्टमेण्ट ऑफ़ होमलैण्ड सिक्योरिटी' की तर्ज़ पर भारतीय गृह मन्त्रालय को पुनर्गठित करने की योजना चिदम्बरम महोदय के दिमाग़ में है, जिसका काम कहने के लिए हर प्रकार के आतंकवाद का सफ़ाया होगा, लेकिन वास्तव में जिसका मुख्य काम भूमण्डलीकरण और उदारीकरण की नीतियों से तबाह-बरबाद होने वाली जनता के हर क़िस्म के प्रतिरोध को कुचलना होगा। इस पुनर्गठित गृह मन्त्रालय के अन्तर्गत एक राष्ट्रीय आतंकवाद-विरोधी केन्द्र (नेशनल काउण्टर टेररिज़्म सेण्टर-एनसीटीसी) की स्थापना की जाएगी - बिल्कुल वैसे ही जैसे कि अमेरिका में है। वस्तुत: अमेरिका में 'डिपार्टमेण्ट ऑफ़ होमलैण्ड सिक्योरिटी' के तहत हूबहू इसी नाम का एक आतंकवाद-विरोधी केन्द्र है। लेकिन यह कोई इत्तेफ़ाक़ नहीं है और न ही इस पर ताज्जुब करने की ज़रूरत है। भारत के रक्षा ढाँचे और ख़ास तौर पर आंतरिक रक्षा ढाँचे को एक नये साँचे में ढालने का जो काम चल रहा है उसके लिए भारत के शासक अमेरिकी गुप्तचर एजेंसियों से परामर्श से लेकर प्रशिक्षण तक ले रहे हैं। इस शिक्षण-प्रशिक्षण का ही नतीजा है कि एक ओर छत्तीसगढ़, उड़ीसा, झारखण्ड और बिहार से माओवादियों के सफ़ाए के लिए 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' शुरू कर दिया गया है, तो वहीं दूसरी ओर, चिदम्बरम ने अपने हालिया बयान में कहा है कि माओवादी चुनौती से निपटने के लिए सैन्य तौर-तरीक़ों से ज़्यादा इण्टेलिजेंस एजेंसियों और वैचारिक-मनोवैज्ञानिक तौर-तरीक़ों का उपयोग किया जायेगा।

स्पष्ट है कि भारतीय राज्यसत्ता आने वाले समय के जनज्वारों से निपटने के लिए अपने आपको चाक-चौबन्द करने की हर सम्भव कोशिश में लगी हुई है। चिदम्बरम इस मामले में एक 'थिंक टैंक' और 'मैन ऑफ़ ऐक्शन', दोनों की ही भूमिका को बखूबी निभा रहे हैं। चिदम्बरम द्वारा आंतरिक सुरक्षा के लिए अलग मन्त्रालय का यह प्रस्ताव उनके द्वारा उन तमाम प्रस्तावों और घोषणाओं की शृंखला में ही हैं जो वे 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' पर शुरू हुई चर्चा के समय से दे रहे हैं। इसके पहले उन्होंने श्रीनगर में एक सम्मेलन में कहा था कि सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून में जल्दी ही संशोधन करके उसे मन्त्रिमण्डल के समक्ष पेश किया जायेगा और संशोधित क़ानून महज़ उत्तर-पूर्व के राज्यों और जम्मू-कश्मीर में ही लागू नहीं होगा, बल्कि पूरे देश में लागू होगा।

कहने के लिए आंतरिक सुरक्षा मशीनरी को चाक-चौबन्द करने के लिए यह सारी कसरत माओवादी ख़तरे से निपटने के लिए की जा रही है। लेकिन जैसा कि अरुंधति राय ने हाल ही में 'गार्डियन' में प्रकाशित अपने एक लेख में कहा है कि निश्चित रूप से छत्तीसगढ़, झारखण्ड, उड़ीसा, और कुछ अन्य प्रदेशों के सीमावर्ती क्षेत्रों में माओवादियों की जो उपस्थिति है उससे निपटने के लिए जो अर्द्धसैनिक बल और तमाम क़िस्म के विशेष बल लगाए गए हैं, वे काफ़ी हैं और माओवादियों की मिलीशिया से शारीरिक और तकनीकी दोनों ही तौर पर अच्छी स्थिति में हैं। ऐसे में, भारतीय सरकार की सैन्य और गुप्तचर तैयारियों को महज़ माओवादी चुनौती के जवाब के रूप में नहीं देखा जा सकता है। इस भारी-भरकम और सोची-समझी तैयारी के पीछे भारतीय शासक वर्गों और उनकी राज्यसत्ता की दूरगामी सोच है।

सरकार द्वारा आतंकवाद और नक्सलवाद के नाम पर जो पूरी मुहिम शुरू की गयी है उसके कई पहलू हैं। पहली बात तो यह है कि सरकार जिन चीज़ों को आतंकवाद बताकर उनके दमन की तैयारी कर रही है उन्हें किस दृष्टिकोण से देखा जाये? सबसे पहले यह समझ लेना ज़रूरी है कि हर

प्रकार का आतंकवाद; चाहे वह धार्मिक कट्टरपन्थी आतंकवाद हो या फिर क्रान्तिवादी आतंकवाद ("वामपन्थी दुस्साहसवाद"), राजकीय आतंकवाद की एक प्रतिक्रिया के तौर पर ही पैदा होता है। पूरी पूँजीवादी व्यवस्था और सत्ता अपनी लूट-खसोट और शोषण-उत्पीड़न की आर्थिक नीति और राजनीति को चलाने के लिए अपनी पुलिस, फ़ौज, नौकरशाही और न्याय-व्यवस्था के ज़रिए बल-प्रयोग करती है। राज्यसत्ता द्वारा इस दमन के प्रतिरोध के रूप में और विकल्प के रूप में किसी क्रान्तिकारी नेतृत्वकारी शक्ति की ग़ैर-मौजूदगी में रैडिकल मध्यवर्ग का एक हिस्सा आतंकवाद की राजनीति का मार्ग चुन लेता है जिसे जनता के सबसे बुरी तरह तबाह होने वाले हताश और क्रुद्ध हिस्से से समर्थन हासिल होता है। राज्यसत्ता द्वारा दमन कहीं पर आम ग़रीब जनता की प्रत्यक्ष आर्थिक लूट का रूप लेता है तो कहीं "परिधिगत" राष्ट्रीयताओं और दमित जातियों की लूट और उत्पीड़न का। प्रतिक्रियास्वरूप ही विभिन्न प्रकार के आतंकवाद जन्म लेते हैं। ऐसे में राज्यसत्ता बल-प्रयोग से आतंकवाद की इस समस्या का समाधान नहीं कर सकती है। कश्मीर और उत्तर-पूर्व के राज्यों का पिछले चार दशकों का इतिहास इस बात का गवाह है कि जनता का इस क़िस्म का प्रतिरोध अगर विजयी नहीं हो सकता तो समाप्त भी नहीं हो सकता। यह इस व्यवस्था के ढाँचागत संकट के तौर पर लगातार मौजूद रहता है और सरकार चाहे जितना भी पुख़्ता इन्तज़ाम कर ले पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे के भीतर रहते हुए इसका ख़ात्मा नहीं हो सकता। आतंकवाद कहीं भी अगर ख़त्म हुआ है तो व्यवस्थागत परिवर्तन से या फिर अपने ही आंतरिक अन्तरविरोधों के चलते। सैन्य दमन कभी इसका ख़ात्मा नहीं कर सका है। निश्चित रूप से किसी भी क़िस्म की आतंकवादी राजनीति का समर्थन करने का प्रश्न ही नहीं उठता, चाहे वह क्रान्तिवादी ही क्यों न हो। लेकिन स्पष्ट है कि इस रुझान के ख़िलाफ़ वैचारिक-राजनीतिक संघर्ष का रास्ता ही अख़्तियार किया जा सकता है। ऐसे में व्यवस्था अगर इस राजनीति को मानने वाले लोगों के साथ अपराधियों जैसा व्यवहार करती है और उन्हें बुनियादी मानवाधिकारों, जैसे न्याय का अधिकार, राजनीतिक क़ैदी का दर्जा दिये जाने का अधिकार आदि, से भी वंचित करती है तो निस्सन्देह इसका विरोध किया जाना चाहिए।

एक अन्य विचारणीय पहलू यह है कि जब भी व्यवस्था आतंकवाद के दमन के नाम पर ऐसा कोई विशाल सैन्य अभियान शुरू करती है तो इसके निशाने पर अपने-आप ही, कोई चाहे न चाहे आम जनता और नागरिक आ जाते हैं। औपनिवेशिक काल से ही हमारे देश में सशस्त्र बलों का प्रशिक्षण और ढाँचा इस तरह से तैयार किया गया है कि वे ऐसे किसी भी अभियान के दौरान आम जनता को अपने बर्बर दमन का शिकार ज़रूर बनाते हैं। जिन राज्यों में ऐसे अभियान चलाये गये हैं या जारी हैं, या जहाँ सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून लागू है, वहाँ का इतिहास इस सच्चाई की चीख-चीखकर गवाही देता है। चाहे वह कश्मीर हो, मणिपुर, नगालैण्ड, असम, मिज़ोरम हों, या हाल ही में लालगढ़, नन्दीग्राम और सिंगूर हों, या फिर छत्तीसगढ़। हर जगह हम देख चुके हैं कि ऐसे सैन्य अभियानों के दौरान अर्द्धसैनिक बलों व अन्य सशस्त्र बलों के दमन का सर्वाधिक सामना आम बेक़सूर जनता को करना पड़ता है। ऐसे में हम मानकर चल सकते हैं कि 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' या 'ऑपरेशन रेड ब्लड' के दौरान भी यह आम ग़रीब जनता ही होगी जिसे सबसे भयंकर और बर्बर दमन का सामना करना होगा। 'ऑपरेशन ग्रीन हण्ट' के दौरान सरकार ने हेलिकॉप्टरों को भी लगाने का फ़ैसला किया है और उन्हें "आत्मरक्षा" में गोलीबारी करने का अधिकार भी दिया है - यानी वही अधिकार जो सरकार जनता को नहीं देती है! समझा जा सकता है कि यह कैसी "आत्मरक्षा" होगी!

सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो भारतीय राज्यसत्ता की इस तैयारी के मद्देनज़र समझने की ज़रूरत है वह यह है कि जिन इलाक़ों में यह सैन्य अभियान शुरू किया गया है वे प्राकृतिक सम्पदा से समृद्ध इलाक़े हैं। समरेन्द्र दास व फ़ेलिक्स पैडेल अपनी जल्दी ही छपने वाली पुस्तक 'ऑउट ऑफ़ दिस अर्थ: ईस्ट इण्डिया आदिवासीज़ एण्ड दि एल्यूमीनियम कार्टेल' में बताते हैं कि अकेले उड़ीसा में मौजूद बॉक्साइट की क़ीमत 2.27 खरब डॉलर है! और यह 2004 की क़ीमत है, आज उसकी क़ीमत क़रीब 4 खरब डॉलर हो चुकी है। हमने अभी अन्य खनिजों और धातुओं की क़ीमत की बात नहीं की है। उड़ीसा की नियामगिरि पहाड़ी को, जिसके नीचे ये बॉक्साइट व अन्य प्राकृतिक संसाधन दबे हैं, वेदान्ता नामक एक खनन कम्पनी को बेच दिया गया है। ग़ौरतलब है कि 2004 में वित्त मन्त्री बनने से पहले तक पी. चिदम्बरम इस कम्पनी के एक ग़ैर-कार्यकारी निदेशक थे। अगर छत्तीसगढ़, बिहार, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र आदि के उन तमाम इलाक़ों के प्राकृतिक संसाधनों की क़ीमत को जोड़ दिया जाये तो एक साइण्टिफ़िक कैल्क्यूलेटर का सॉफ़्टवेयर भी हैंग कर सकता है। इन इलाक़ों में मुख्य तौर पर आदिवासी आबादी रहती है जो आज़ादी के 62 वर्षों के इतिहास में पिछड़ते-पिछड़ते परिधि से भी बाहर हो चुकी है। यह देश की जनता का सबसे ग़रीब हिस्सा है जिसकी ग़रीबी और बदहाली की तुलना अफ़्रीका के सबसे ग़रीब देशों की सबसे ग़रीब जनता की स्थितियों से की जा सकती है। पूँजीवादी विकास का कोई क़तरा 'ट्रिकल डाउन' करके इस आबादी तक नहीं पहुँचा है और इसकी तादाद करोड़ों में है। देश का संविधान इन आदिवासियों को अपनी जगह-ज़मीन पर अधिकार देता है लेकिन यह सिर्फ़ काग़ज़ी बात है। देश के "सबसे भले इन्सान" प्रधानमन्त्री मनमोहन सिंह ने हाल ही में सेना और गुप्तचर एजेंसियों की एक बैठक में कहा कि इन इलाक़ों में ज़मीन का अधिग्रहण करने में सबसे बड़ी बाधा इन आदिवासियों का प्रतिरोध और माओवादी आन्दोलन है। इससे भारत में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश

पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ रहा है और इस बाधा को हटाने के लिए हर सम्भव प्रयास किया जाना चाहिए। 2006 में ही मनमोहन सिंह ने कहा था कि नक्सलवाद देश की सुरक्षा को सबसे बड़ा आंतरिक ख़तरा है। अब समझा जा सकता है कि वे किस देश की सुरक्षा की बात कर रहे थे। उनके देश के नागरिकों में टाटा, बिड़ला, मित्तल, जिन्दल, वेदान्ता, और ट्विनस्टार आते हैं, इस देश की ग़रीब जनता नहीं। इन कॉरपोरेट घरानों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिए इस देश की अकूत प्राकृतिक सम्पदा को लूट का खुला चरागाह बना देने के लिए सरकार को आदिवासियों का दमन करना ही होगा। खुद ग्रामीण विकास मन्त्रालय के तहत गठित एक कमिटी ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि भारत के इन आदिवासी इलाक़ों में सरकार द्वारा किया जा रहा भूमि अधिग्रहण कोलम्बस के द्वारा ज़मीन पर क़ब्ज़े के बाद आधुनिक विश्व इतिहास की सबसे बड़ी ज़मीन की लूट (लैण्ड ग्रैब) है। अरुंधति राय ने इसे 21वीं सदी का 'गोल्ड रश' कहा है। ज़ाहिर है कि इस दमन को अंजाम देने के लिए उन्हें एक बहाना चाहिए था और वह बहाना माओवाद के रूप में उन्हें मिल गया। ग़ौरतलब है कि माओवादी इन इलाक़ों में आदिवासियों के भूमि अधिग्रहण के खिलाफ़ प्रतिरोध संघर्ष में अगुवाई कर रहे हैं। यही कारण है कि इन इलाक़ों में उन्हें आदिवासियों का समर्थन भी प्राप्त है। ऐसे में उन्हें बहाना बनाना सबसे आसान था। आज इन राज्यों में प्राकृतिक और मानव सम्पदा के दोहन के लिए सरकार जनता के प्रतिरोध को कुचलने के वास्ते सैन्य अभियानों का संचालन कर रही है, तरह-तरह के क़ानून बना रही है, तरह-तरह के विशेष सशस्त्र बल तैयार कर रही है। लेकिन इसका अर्थ यह क़तई नहीं है कि उसका यह निरंकुश चरित्र इन्हीं राज्यों, इस विशेष सैन्य अभियान, आदिवासी जनता, और नक्सलवाद तक ही सीमित रहने वाला है।

भारत के पूर्व राष्ट्रपति वेंकटरमण ने पद से हटने के बाद कहा था कि भारतीय सत्ता जिन नवउदारवादी, भूमण्डलीकरण, निजीकरण की नीतियों को लागू कर रही है उनके अमल के लिए सत्ता का निरंकुश सर्वसत्तावादी होना ज़रूरी होगा। यह टिप्पणी बहुत ही मार्के की बात कहती है। 1990 में नरसिम्हा राव सरकार द्वारा भूमण्डलीकरण की नीतियों की भारत में खुले तौर पर शुरुआत के बाद से अब तक का बीस वर्षों का इतिहास इस बात का गवाह है कि भारतीय पूँजीवादी राज्यसत्ता अधिक से अधिक ग़ैर-जनतान्त्रिक और तानाशाही रंग-रूप अख़्तियार करती गयी है। यही वह पूरा समय था जिसमें टाडा, पोटा, मकोका, छत्तीसगढ़ विशेष जन सुरक्षा अधिनियम, आतंकवाद निरोधक क़ानून, आदि जैसे तमाम क़ानून अस्तित्त्व में आये हैं जिन्होंने भारतीय जनता से एक-एक करके तमाम बुनियादी जनवादी अधिकार छीनने का काम किया है और सरकार को ऐसे औज़ारों से लैस किया है जो उसके दमन के पाटे के रास्ते में आने वाली किसी भी बाधा का क़ानूनी पचड़े के बिना ख़ात्मा कर दें। आज़ादी के 62 वर्ष बीतने के बाद आम मेहनतकश जनता के समक्ष यह बात साफ़ हो चुकी है कि यह व्यवस्था उन्हें कुछ नहीं दे सकती है। आज़ादी के छह दशक बाद भी देश की 77 फ़ीसदी आबादी 20 रुपये प्रतिदिन या उससे कम की आय पर जी रही है, ऊपर के दस फ़ीसदी अमीरज़ादों के पास देश की कुल सम्पत्ति का 85 फ़ीसदी हिस्सा है जबकि नीचे की 60 फ़ीसदी जनता के पास महज़ 2 प्रतिशत हिस्सा है, आबादी का ऊपर का 0.01 प्रतिशत हिस्सा ऐसा है जिसकी आमदनी पूरे देश की औसत आमदनी से दो सौ गुना अधिक है। स्पष्ट है कि धनी और ग़रीब के बीच की खाई लगातार बढ़ती जा रही है। आज़ादी के बाद से देश के ऊपर के 22 पूँजीपति घरानों की परिसम्पत्ति में 500 गुने से भी अधिक की वृद्धि हो चुकी है, देश के भ्रष्टाचारियों के 1456 अरब डॉलर स्विस बैंकों में जमा हैं जो कि भारत के सकल घरेलू उत्पाद से भी ज़्यादा है। दूसरी ओर देश की 18 करोड़ ग़रीब आबादी के पास रहने को घर भी नहीं है और अन्य 18 करोड़ टूटी-फूटी झुग्गियों में रहते हैं। 63 फ़ीसदी बच्चे प्राय: भूखे सोते हैं और 46 प्रतिशत भारतीय बच्चे कुपोषण का शिकार हैं। आज़ादी के इतने समय बीत जाने के बाद 42 प्रतिशत घरों में बिजली नहीं है और 80 प्रतिशत लोगों को सुरक्षित पीने का पानी तक मयस्सर नहीं है। ऐसे आँकड़ों से बहुत से पन्ने रंगे जा सकते हैं।

सरकार में बैठे मन्त्री और उनके 'थिंक टैंक' भी अच्छी तरह से जानते हैं कि जिन आर्थिक नीतियों को लागू करने के लिए उन्होंने तैयारी कर रखी है, वे इस दुर्दशा को और भयंकर रूप देंगी। ग़रीबों के लिए जीवन और भी अधिक मुश्किल और नारकीय बनता जाएगा। धनी और ग़रीब के बीच की खाई लगातार बढ़ेगी। लोग अपनी जगह-ज़मीन से और तेज़ी से उजड़ेंगे, ग़रीब और निम्न-मध्यम किसान कृषि में पूँजी की दख़ल के और बढ़ने के साथ तबाह-बर्बाद होकर सर्वहाराओं की क़तार में शामिल होंगे और साथ ही सरकार तमाम आदिवासियों और मूलनिवासियों को कॉरपोरेट घरानों के लिए भूमि अधिग्रहण करने के लिए उन्हें उनकी ज़मीन से बलपूर्वक उजाड़ेगी। 1997 से अब तक जिन 2 लाख किसानों ने आत्महत्या की है, वे मुख्य तौर पर इन्हीं उजड़े किसानों में से थे। बढ़ती महँगाई, ग़रीब और बेरोज़गार शहरी औद्योगिक सर्वहारा वर्ग के लिए जीवन को और कठिन बनाती जाएगी। एक-एक करके सरकार बचे-खुचे श्रम क़ानूनों को भी किनारे लगा देगी और पूँजीपतियों के मुनाफ़े के रास्ते में खड़े हर बैरियर और स्पीड ब्रेकर को एक-एक करके हटाती जायेगी। जो श्रम क़ानून हैं वे भी आज लागू नहीं होते जिसके कारण इस देश के मज़दूरों का 93 प्रतिशत अनौपचारिक क्षेत्र में पाशविक स्थितियों में काम करता है। इन क़ानूनों के ख़त्म होने के बाद स्थिति क्या होगी इसका अन्दाज़ा सहज ही लगाया जा सकता है। छँटनी-बेरोज़गारी, ग़रीबी, सामाजिक और आर्थिक असुरक्षा के दबाव में मज़दूर आबादी भी तेज़ी

से बग़ावत की तरफ़ बढ़ेगी। हाल में हुए तमाम जुझारू मज़दूर संघर्षों में हमने मज़दूर आबादी के बीच सुलग रहे असन्तोष और गुस्से को देखा, चाहे वह गुड़गाँव में लाखों मज़दूरों का सड़क पर उतर आना हो, या पंजाब में मज़दूरों के गुस्से का विस्फ़ोट। भूमण्डलीकरण के इस दौर में पूँजीवादी व्यवस्था के दायरे में रहते हुए भारतीय पूँजीपति वर्ग के पास और कोई विकल्प भी नहीं है। और अगर यह एकमात्र विकल्प है तो ज़ाहिर है कि इसे लागू करना ही पड़ेगा। और अगर यह लागू किया जाता है तो नतीजे वही होंगे जिनका हमने ऊपर ज़िक्र किया है। यही बात चिदम्बरम और मनमोहन सिंह समेत इस व्यवस्था के सारे पैरोकार भली-भाँति समझते हैं। यही कारण है कि पूँजीवादी राज्यसत्ता अपने आप को हर क़िस्म के ऐसे हरबे-हथियार से लैस करने में अभी से लग गयी है जो भावी जनविस्फ़ोटों से निपटने में उसके काम आ सकें। यही कारण है कि तरह-तरह के नये क़ानून बनाए जा रहे हैं, नए-नए विशेष प्रशिक्षण प्राप्त विशेष सशस्त्र बल बनाए जा रहे हैं, विदेशी गुप्तचर एजेंसियों और सेनाओं से प्रशिक्षण प्राप्त किया जा रहा है।

आज पूँजीवादी लूट और भूमि अधिग्रहण के विरुद्ध जो भी जनविस्फ़ोट हो रहे हैं वे स्वत:स्फ़ूर्त हैं और किसी स्पष्ट वैचारिक-राजनीतिक दिशा के अभाव में वे आतंकवाद के गड्ढे में जा रहे हैं। उड़ीसा, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश आदि के आदिवासी अपने जीवन-मरण की लड़ाई लड़ रहे हैं। उनके पास उनकी ज़मीन के सिवा और कुछ भी नहीं है। अगर यह भी उनसे छिनती है तो उनके पास जीवित रहने के लिए कुछ भी नहीं बचेगा। उजड़कर औद्योगिक सर्वहारा वर्ग की क़तार में शामिल होने के लिए न तो वे मानसिक तौर पर तैयार हैं और न ही भौतिक तौर पर। दूसरी बात यह कि भारत के औद्योगिक ढाँचे में भी इतनी क्षमता नहीं है कि इतनी बड़ी आबादी को खपा सके। ऐसे में वे अपने अस्तित्त्व की लड़ाई लड़ रहे हैं। निश्चित तौर पर यह लड़ाई वे पुरानी ज़मीन पर खड़े होकर लड़ रहे हैं। इसकी प्रकृति रक्षात्मक है और इसे जीत पाना सम्भव नहीं है। लेकिन उनके लिए यही जीवन-मरण की लड़ाई है और वे इसे छोड़ने वाले नहीं हैं। मज़दूरों के बीच होने वाले विस्फ़ोट भी बिखरे हुए हैं और उनके पास भी कोई दिशा नहीं है। पूरा मज़दूर आन्दोलन अर्थवाद और ट्रेडयूनियनवाद की चपेट में गोल-गोल घूम रहा है। कुछ आशान्वित करने वाले प्रयासों को छोड़ दें तो फ़िलहाल नयी राह निकालने वाला कोई आन्दोलन या संघर्ष नज़र नहीं आ रहा है। लेकिन मज़दूर आबादी में लावे की तरह उबलता गुस्सा छोटे-छोटे मुद्दों पर भी उमड़कर सड़कों पर चला आ रहा है। अनौपचारिक क्षेत्र में काम करने वाले मज़दूरों की एक भारी आबादी (कुल मज़दूर आबादी का क़रीब 93 प्रतिशत) लगातार राह टटोल रही है और समझौतापरस्त संशोधनवादी-अर्थवादी ट्रेडयूनियनों के विषैले प्रभाव से सापेक्षिक रूप से मुक्त है। छात्रों-युवाओं के बीच भी महँगी होती शिक्षा और बढ़ती बेरोज़गारी को लेकर भयंकर असन्तोष है और वह आने वाले समय में फूटेगा। ऐसे में यह कहना अतार्किक और अवैज्ञानिक होगा कि दिशाहीनता और विकल्पहीनता की यह स्थिति लगातार बनी रहेगी। ऐसे में, लम्बी, उथल-पुथल, उठा-पटक और सफलता-असफलता से भरी प्रक्रिया के बीच से एक निश्चित राजनीतिक दिशा और समझ से लैस एक परिपक्व राजनीतिक नेतृत्व उभरने की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता है। बल्कि कहना चाहिए कि ऐतिहासिक तौर पर यह अवश्यंभावी लगता है।

स्पष्ट है कि भारत का शासक वर्ग और उसकी राज्यसत्ता आतंकवाद के सफ़ाये के नाम पर आने वाले दिनों की इसी सम्भावना से निपटने और क्रान्तिकारी जनविस्फ़ोटों को कुचलने के लिए खुद को तैयार कर रहा है। इसके लिए ज़रूरत पड़ी तो वह अघोषित तौर पर एक आपातकाल भी देश की जनता पर थोप सकता है, जैसा कि सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून में संशोधन कर उसे पूरे देश पर लागू करने और आंतरिक सुरक्षा के लिए अलग मन्त्रालय बनाने के चिदम्बरम के बयान से ज़ाहिर हो रहा है। इसकी शुरुआत पहले उन इलाक़ों से की जा रही है जहाँ फिलहाल भारतीय पूँजीवादी राज्यसत्ता की लूट के रास्ते में जनप्रतिरोध आ रहा है। सभी जनवादी और प्रगतिशील छात्रों, युवाओं, और बुद्धिजीवियों को मेहनतकश अवाम के साथ मिलकर अघोषित आपातकाल लागू करने की इस साज़िश के ख़िलाफ़ संघर्ष करना होगा। इसकी चपेट में इस देश का आम मेहनतकश अवाम तो आयेगा ही, लेकिन साथ ही उनके पक्ष की बात करने वाला हर इन्साफ़पसन्द नागरिक भी आयेगा। इसलिए यह जनता के समस्त जनवादी अधिकारों और संघर्षों के बाद अर्जित जनवादी 'स्पेस' पर भी हमला है। चिदम्बरम बुद्धिजीवियों को "आतंकवाद के प्रोत्साहन" के लिए लगातार कोस रहा है। सन्देश साफ़ है- या तो तुम हमारे साथ हो, या फिर तुम आतंकवादी हो! ऐसे में, हर सोचने वाले विवेकवान नौजवान और नागरिक को अपना पक्ष तय करने की ज़रूरत है। वह मुनाफ़े की हवस में देश की जनता और प्रकृति को तबाह कर देने पर तुली इस व्यवस्था के साथ है या फिर जनता के साथ।

●

"हमने किसी ऐसी उम्दा चीज़ का लुत्फ़ न कभी उठाया है और न ही कभी उठा पायेंगे, जिसमें कोई श्रम न लगा हो। चूँकि सभी उम्दा चीज़ें श्रम द्वारा पैदा की जाती हैं, इसलिए इसका सीधा निष्कर्ष यह है कि जिन्होंने श्रम करके चीज़ों को पैदा किया है, वे ही हर अधिकार के हक़दार होते हैं। मगर युगों से दुनिया में यही चला आ रहा है कि श्रम कोई करता है और फल के बड़े हिस्से का लाभ दूसरे उठाते हैं। यह ग़लत है और इसे नहीं चलने देना चाहिये।...."

– अब्राहम लिंकन

किसका संविधान? कैसा संविधान?

• शिशिर

हाल ही में भारतीय संविधान के निर्माण और उसके लागू होने के 60 वर्ष पूरे हुए। देश के शासक वर्ग और सत्ता ने इस मौक़े पर काफ़ी जश्न मनाया। देशभक्ति और राष्ट्रभक्ति के बाज़ार को एक बार फिर से गर्माने का मौक़ा था। संविधान और उसके निर्माताओं के बारे में हर मंच से प्रशस्ति-पत्र पढ़े गये। हमें बताया गया कि हमारे देश के संविधान-निर्माता सबसे ज्ञानी थे और उन्होंने अन्य देशों के संविधान की सभी सकारात्मक चीज़ों को अपना लिया और नकारात्मक चीज़ों को छोड़ दिया! इसीलिए तो हमारा संविधान सर्वश्रेष्ठ है और दुनिया के 'सबसे बड़े जनतन्त्र' का संविधान होना भी ऐसा ही चाहिए! महानतम! देश का खाता-पीता मध्यवर्ग भी इस जश्न में बाख़ुशी शामिल हुआ। खाये-अघाये लोगों की कॉलोनियों में छतों-मुण्डेरों पर तिरंगा लहराने लगा! स्कूलों में भी तिरंगे लहराये और बच्चों को तर्जनी उठाकर देश के संविधान और जनतन्त्र पर गर्व करना सिखाया गया।

लेकिन सवाल यह है कि इस देश का संविधान कितना जनतांत्रिक है? यह इस देश के नागरिकों को क्या देता है? इसे बनाने में इस देश की बहुसंख्यक आबादी की क्या भूमिका रही? इसके मूलभूत सिद्धान्त क्या वाक़ई इस देश के नागरिकों को जनवादी अधिकार देते हैं? इसका उद्भव और विकास कैसे हुआ है? इसके लिए हमें जानना होगा कि इस संविधान के निर्माण और निर्माताओं का इतिहास क्या है और उसके निर्माण की प्रक्रिया जनतांत्रिक है या नहीं।

संविधान का जन्म और विकास: मूल से ही ग़ैर-जनतांत्रिक और निरंकुश!

कम लोग ही इस तथ्य से परिचित हैं कि आज भारत के नागरिकों के लिए जो संविधान सम्मान्य और बाध्यकारी है उसे बनाने वाली संविधान सभा को चुनने का काम इस देश के नागरिकों ने सार्विक मताधिकार के आधार पर नहीं किया था बल्कि मात्र 11.5 प्रतिशत लोगों ने किया था। इन लोगों को सम्पत्ति का स्वामी होने के आधार पर चुना गया था। बताने की आवश्यकता नहीं है कि 1946 में पूँजीपतियों, ज़मीन्दारों, रियासतों के राजाओं और राजकुमारों के अतिरिक्त चन्द कुलीन ही सम्पत्तिधारी होने के पैमाने पर खरे उतरते थे। 16 मई 1946 को ब्रिटिश वाइसरॉय वेवेल ने संविधान सभा बुलायी। इस संविधान सभा का चुनाव वयस्क सार्वभौमिक मताधिकार के आधार पर नहीं किया गया था बल्कि 1935 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट' के आधार पर चुनी गयी प्रान्तीय विधानसभाओं (लेजिस्लेटिव कौंसिल्स) को ही अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करके भेजने को कह दिया गया, जिसके आधार पर संविधान सभा का निर्माण होना था। इतिहास से परिचित सभी लोग जानते हैं कि इन विधानसभाओं का चुनाव 11.5 प्रतिशत मतदाताओं के आधार पर हुआ था जिनमें महज़ सम्पत्तिधारी वर्ग शामिल थे। इनमें मज़दूरों, किसानों, निम्न-मध्यम वर्गों का कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। चुने हुए प्रतिनिधियों के अतिरिक्त रियासतों-रजवाड़ों के कुछ प्रतिनिधियों और अभिजन समाज के कुछ प्रतिनिधियों को भी संविधान सभा में कोऑप्ट कर लिया गया था। ज़ाहिर है कि वे आमजन के चुने हुए प्रतिनिधि नहीं बल्कि मुट्ठीभर धनिकों के टट्टू थे। नवम्बर 1946 में कांग्रेस के मेरठ सत्र में नेहरू ने वायदा किया कि आज़ादी मिलने के बाद नयी संविधान सभा बुलायी जाएगी जिसे सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार के आधार पर चुना जाएगा। इसके बाद भी नेहरू ने कई बार यह वायदा दुहराया था। लेकिन यह वायदा कभी पूरा नहीं हुआ। ठीक उसी प्रकार जैसे और तमाम लुभावने समाजवादी और जनवादी वायदे भी नेहरू ने पूरे नहीं किये।

इस ग़ैर-जनवादी और निरंकुश ढंग से बनी संविधान सभा ने जो संविधान बनाया वह औपनिवेशिक 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट, 1935' का ही सच्चा वारिस था। यही कारण था कि इसकी 395 धाराओं में से 250 धाराएँ या तो शब्दशः उसी ऐक्ट से उठायी गयीं या फिर मामूली संशोधनों के साथ अपना ली गयीं। इसके अलावा उसके बुनियादी सिद्धान्त ज्यों के त्यों क़ायम रखे गये। जैसा कि हम जानते हैं, 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट, 1935' देशभर में जनता के ब्रिटिश राज के विरुद्ध बढ़ते असन्तोष पर पानी के छींटे मारने के लिए लाया गया ऐक्ट था। इसके दो प्रमुख लक्ष्य थे। एक, भारत के उभरते हुए और धीरे-धीरे अपनी ताक़त बढ़ाते पूँजीपति वर्ग को सत्ता में नाममात्र की साझेदारी देना। दो, आज़ादी की चाह और ब्रिटिश शासन के ख़िलाफ़ नफ़रत रखने वाली भारत की जनता के गुस्से पर ठण्डे पानी के छींटे मारना। इसका काम एक 'सेफ़्टी वॉल्व' का अधिक था और वास्तव में जनवादी अधिकार देने का कम। यही कारण था कि इस ऐक्ट के तहत हुए प्रान्तीय चुनावों में मताधिकार को सम्पत्तिधारी वर्गों से आगे विस्तारित नहीं किया गया। भारत के देशी शासक वर्गों को तो कुछ मिला लेकिन जनता को कुछ भी नहीं। इसे एक प्रतीकात्मक विजय भी मुश्किल से ही कहा जा सकता था।

बहुत ही ताज्जुब की बात है कि भारत में जनवाद और नागरिक अधिकारों की बात करने वाले एक से एक विश्व-प्रसिद्ध न्यायविद्, जनवादी अधिकार विशेषज्ञ, वक़ील, पत्रकार हुए, लेकिन बिरले ही कोई ऐसा रहा जिसने भारतीय संविधान के ग़ैर-जनवादी उद्भव पर सवाल खड़ा किया हो और नयी संविधान सभा की बात की हो। कोई चुनावी पार्टी इस मुद्दे पर कोई सवाल नहीं उठाती है। कांग्रेस नयी संविधान सभा के वायदे से मुकर गयी, जो कि स्वाभाविक ही था। भारत का तत्कालीन कम्युनिस्ट आन्दोलन किसी एकीकृत नेतृत्व, एकीकृत योजना और कार्यक्रम की समझदारी के अभाव में इस बेहद महत्त्वपूर्ण मुद्दे पर अनिर्णय की स्थिति में पड़ा रह गया। भारत की अविभाजित कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में कई जुझारू आन्दोलन हुए, जैसे कि तेलंगाना-तेभागा, पुनप्रा-वायलार के किसान आन्दोलन। लेकिन इन सभी आन्दोलनों को भी निश्चित कार्यक्रम के अभाव में और दिशाहीनता की स्थिति में पराजय का सामना करना पड़ा। साथ ही, नौसेना विद्रोह और ब्रिटिश रॉयल वायुसेना में भी कई जगह विद्रोह 1946 के उथल-पुथल भरे साल में ही फूट पड़े थे, लेकिन उनको भी संगठित करने और अन्य संघर्षों से जोड़कर एक देशव्यापी आन्दोलन की शक्ल देने की कोई समझदारी उस समय की कम्युनिस्ट पार्टी के पास नहीं थी। नतीजतन, तमाम क़ुर्बानियों और बहादुरी की अद्वितीय मिसालों के बावजूद ये संघर्ष अन्धी गली में जाकर ख़त्म हुए और भारत का मज़दूर वर्ग सक्षम नेतृत्व के अभाव में एक बहुत बड़े ऐतिहासिक मौक़े से हाथ धो बैठा। इन संघर्षों की पराजय के बाद की निराशा और दिशाहीनता के ही माहौल में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने संशोधनवाद का रास्ता पकड़ा और 1951 में भारतीय पूँजीवाद से समझौता कर लिया। पार्टी ने संसदीय रास्ता अख़्तियार कर लिया। इसके बाद 1952 में पहला आम चुनाव हुआ। उसके बाद भी किसी पार्टी ने नयी संविधान सभा बुलाने की माँग नहीं रखी। किसी भी बुर्जुआ पार्टी द्वारा नयी संविधान सभा की माँग पर बल न देना स्वाभाविक ही था, क्योंकि अपने वर्ग चरित्र के हिसाब से वे भी उसी कटे-फटे, अतिसीमित और पाखण्डी बुर्जुआ जनवाद के पक्षधर थे जिसकी आधरशिला भारतीय संविधान ने रखी थी। जनवाद की चौहद्दी को स्वीकारने के बाद कम्युनिस्ट पार्टी से भी यह अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। जिस निकाय को भारत की पहली संविधान सभा का दर्जा प्राप्त होना चाहिए था वही भारत की पहली संसद बन गया। इसके बाद, 1964 में अस्तित्त्व में आयी भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) ने भी नयी संविधान सभा का मुद्दा कभी नहीं उठाया। ज़ाहिर है, उसे भी संसदवाद के कीचड़कुण्ड में ही डुबकी लगानी थी। पिछले 46 वर्षों के इतिहास ने किसी भी सन्देह से परे इस बात को साबित कर दिया है। उसके बाद एक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन भी 1960 के दशक के अन्त में अस्तित्त्व में आया, लेकिन उसके एजेण्डे पर भी यह सवाल नहीं आया। नक्सलबाड़ी का किसान उभार एक सही शुरुआत के बाद वामपन्थी दुस्साहसवाद के गर्त में जा गिरा। उसके बड़े हिस्से ने माओ की क्रान्तिकारी जनदिशा को छोड़कर क्रान्तिकारी आतंकवाद की लाइन को अपनाया। अब इसे इतिहास की एक विडम्बना ही कहा जा सकता है कि इसके बावजूद इस लाइन को लागू करने वालों को इनदिनों "माओवादी" कहा जाता है।

अधिकार देने से ज़्यादा अधिकार छीनने के प्रावधानों से भरा है हमारा संविधान

नयी संविधान सभा का प्रश्न और कई प्रश्नों से जुड़ा हुआ है। भारतीय संविधान के भीतर जितनी धाराएँ जनवादी नागरिक अधिकारों को मुहैया कराती हैं उससे अधिक धाराएँ "आपात" स्थितियों में उन्हें रद्द करने के लिए हैं। जब इन धाराओं से भी मन नहीं भरता तो उसमें नये संशोधन करने के प्रावधान भी संविधान के भीतर ही मौजूद हैं। यही कारण है कि पिछले 60 वर्षों में इसमें क़रीब 90 संशोधन किये जा चुके हैं। यानी, हर वर्ष डेढ़ संशोधन! भारतीय संविधान स्वयं हर जनवादी अधिकार को रद्द या निलम्बित करने का अधिकार राज्य को देता है। जब तक आप पूँजीपति वर्ग के अधिनायकत्व के नीचे दबकर रहते हैं, आप एक आदर्श नागरिक माने जाते हैं। जैसे ही आप दमन, शोषण और तानाशाही के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाते हैं वैसे ही आप राज्य के शत्रु हो जाते हैं। और राज्य अपने शत्रुओं के साथ निर्ममता और बर्बरता को क़ानूनी रूप देने का काम संविधान के ज़रिये ही करता है। जब भी पूँजीवादी जनतन्त्र (तानाशाही) के लिए संकट की स्थितियाँ पैदा होती हैं तो राज्यसत्ता आपातकाल को बिना प्रत्यक्ष सैनिक तानाशाही क़ायम किये लागू कर देती है! यह है भारत का अनोखा जनतन्त्र! 1975 में भी जब आपातकाल लागू किया गया था तो इन्दिरा गाँधी ने न तो सेना को सत्ता सौंपी, न ही दमन के लिए सेना का इस्तेमाल किया गया। अर्द्धसैनिक बलों की विशाल बर्बर मशीनरी के ज़रिए दमनतन्त्र चलाया गया। ध्यान रहे कि आपातकाल संविधान को ताक पर रखकर नहीं बल्कि उसी के तहत (महज़ एक संशोधन, 42वाँ संशोधन, करके और ऐसे संशोधन का भी संविधान में प्रावधान था) लागू किया गया। ज़ाहिर है कि संविधान ने शासक वर्गों की सहूलियतों का पूरा ख़याल रखा है।

बात बहुत साफ़ है और सीधी-सादी है। यह जनता के बुनियादी जनवादी अधिकारों की एक बुनियादी माँग है कि सार्विक मताधिकार के आधर पर एक नयी संविधान सभा की माँग पुरज़ोर तरीक़े से उठायी जाये, जिसके प्लेटफ़ॉर्म पर जनता को वास्तविक जनवादी और नागरिक अधिकार देने वाले ऐसे संविधान के निर्माण के लिए संघर्ष चलाया जाये, जो औपनिवेशिक विरासत के अभिशाप से मुक्त हो। यही नहीं, इस मुद्दे को भी पुरज़ोर तरीक़े से उठाया जाना चाहिए कि उसी नयी संविधान सभा को आई.पी.सी., सीआर.पी.सी., जेल मैनुअल, पुलिस मैनुअल, सम्पत्ति के अधिकार विषयक क़ानून, तमाम नागरिक क़ानूनों सहित उस पूरी क़ानून-व्यवस्था को आमूलगामी ढंग से बदल देना होगा, जो लगभग पूरी तरह से वही है जैसा अंग्रेज़ों के शासनकाल के दौरान था। यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि संविधान हमें जो भी अतिसीमित नागरिक एवं जनवादी अधिकार देता है,

वह क़ानून व्यवस्था के मकड़जाल में उलझकर रह जाता है और आम नागरिक को कुछ नहीं मिलता। रोज़-रोज़ नीचे की अदालतों में आम नागरिक 'लीगल रेमेडी' के लिए दर-दर की ठोकरें खाता, औपनिवेशिक क़ानूनों और न्यायिक ढाँचे में पिसता रहता है। जो सीमित 'कांस्टीट्यूशनल रेमेडी' उपलब्ध हैं, उनतक प्रबुद्ध खाते-पीते मध्यवर्गीय नागरिकों में से कुछ पहुँच पाते हैं जो उच्च न्यायालय और उच्चतम न्यायालय के संवैधानिक बेंचों तक किसी मुद्दे को लेकर पहुँच सकते हैं। तात्पर्य यह कि संविधान प्रदत्त जनवाद नब्बे प्रतिशत लफ्फाजी और दिखावा है। जो दस प्रतिशत बुर्जुआ जनवाद वहाँ से छनकर बाहर आता है, उसका भी 8 प्रतिशत भाग क़ानून व्यवस्था में अटक जाता है। 2 प्रतिशत आम जनों तक पहुँचता है। आम नागरिक के लिए जनवाद का मुख्य मतलब हर पाँच साल बाद नागनाथ या साँपनाथ में से किसी एक के चुनावचिह्न पर ठप्पा मारना मात्र रह जाता है। आज जनता के पास यदि कोई नागरिक और जनवादी अधिकार है, तो वह संविधान की नहीं, बल्कि जनता के संघर्षों और आन्दोलनों की देन है।

> बहुत ही ताज्जुब की बात है कि भारत में जनवाद और नागरिक अधिकारों की बात करने वाले एक से एक विश्व-प्रसिद्ध न्यायविद्, जनवादी अधिकार विशेषज्ञ, वक़ील, पत्रकार हुए, लेकिन बिरले ही कोई ऐसा रहा जिसने भारतीय संविधान के ग़ैर-जनवादी उद्भव पर सवाल खड़ा किया हो और नयी संविधान सभा की बात की हो। कोई चुनावी पार्टी इस मुद्दे पर कोई सवाल नहीं उठाती है। कांग्रेस नयी संविधान सभा के वायदे से मुकर गयी, जो कि स्वाभाविक ही था।

एक और बात पर काफ़ी ताज्जुब होता है। इस देश के बहुतेरे वामपन्थी बुद्धिजीवी और रैडिकल विचार रखने वाले लोग भी संविधान निर्माता डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की विद्वत्ता पर मन्त्रमुग्ध रहते हैं। विद्वत्ता तो निश्चित रूप से थी। लेकिन उस विद्वत्ता का चरित्र क्या था? अम्बेडकर निश्चित रूप से यह समझने के लिए पर्याप्त जानकार और विद्वान थे कि यह संविधान अपने मूल से ही निरंकुश और ग़ैर-जनवादी साबित होने जा रहा है। वास्तव में यह जनता को समस्त जनवादी अधिकार नहीं देता है और जो देता है उसे भी छीन लेने की के प्रावधान स्वयं अपने ही भीतर छुपाये रखता है। ऐसा मानना मासूमियत होगी कि अम्बेडकर इस बात को समझ न पाये हों या इससे अनजान रहे हों। उनकी पक्षधरता साफ़ थी। यह संविधान इस देश के दलितों, आदिवासियों, स्त्रियों और उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं को भी सिर्फ़ नाममात्र के अधिकार देता है। और अगर कार्यकारी निकाय उनका सम्मान नहीं करे तो इससे किसी की सेहत पर कोई ख़ास असर नहीं पड़ता है। ऐसे में कोई भी जनपक्षधर बुद्धिजीवी संविधान-निर्माण में अम्बेडकर की भूमिका का ऐसा ग़ैर-आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकता है, यह वाक़ई आश्चर्य पैदा करता है।

इन सभी कारकों के मद्देनज़र संविधान के 60 वर्ष पूरे होने पर भारत के पूँजीपति वर्ग, उच्च मध्यम वर्ग का हर्षातिरेक तो समझ में आता है, लेकिन आम घरों से आने वाले बेटे-बेटियाँ किस बात का जश्न मनायें? इस देश का तबाह-बर्बाद मेहनतकश किस बात की ख़ुशी मनाए? इस देश की औरतें, दलित, आदिवादी और दमित राष्ट्रीयताएँ किस बात का जश्न मनायें? यह जिनका संविधान है वे जश्न मना रहे हैं। कश्मीर से लेकर उत्तर-पूर्व के राज्यों, छत्तीसगढ़, उड़ीसा और पश्चिम बंगाल में जनता के साथ पुलिस और सशस्त्र बल जो पाशविक सुलूक कर रहे हैं उसके प्रावधान इसी संविधान में मौजूद हैं। देश की अखण्डता और सुरक्षा के नाम पर देश की जनता को ही मारा जा रहा है, जेलों में ठूँसा जा रहा है और उनका निर्मम और बर्बर दमन किया जा रहा है। क्योंकि इस संविधान में देश की अखण्डता का अर्थ है देश के मुनाफ़ाख़ोरों की मुनाफ़े की मशीनरी की अखण्डता और देश की सुरक्षा का अर्थ है देश के पूँजीपतियों और उनकी व्यवस्था की इस देश की तबाह-बर्बाद अवाम की नफ़रत से सुरक्षा! हमारा सच्चा संविधान वह होगा जो इस देश की बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी को जीवन, आजीविका, रोज़गार, और बुनियादी आवश्यकताओं की रक्षा करे। इसलिए नयी संविधान सभा का नारा इतिहास का एक छूटा हुआ कार्यभार है और इसे पूरा करना किसी भी क्रान्तिकारी आन्दोलन के एजेण्डे पर एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। आज इस मामले में नेपाल भी हमसे आगे निकल चुका है। नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी (माओवादी) के नेतृत्व में कई वर्षों से चल रहे आन्दोलन के नतीजे के तौर पर कम से कम वहाँ की जनता ने नयी संविधान सभा का अधिकार हासिल किया, भले ही आज वहाँ का क्रान्तिकारी आन्दोलन एक दोराहे पर खड़ा हो। नयी संविधान सभा मई 2010 तक नये संविधान को लाने की बात कह रही है। इसके आगे नेपाल के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट आन्दोलन को एक सही दिशा में आगे ले जायेंगे और आन्दोलन के समक्ष मौजूद वर्तमान समस्याओं और दुविधाओं का समाधान करेंगे, हम यह उम्मीद करते हैं। लेकिन राजशाही के उन्मूलन के साथ सार्विक मताधिकार के आधार पर चुनी गयी नयी संविधान सभा की स्थापना निश्चित रूप से इस आन्दोलन की शानदार जीत थी। लेकिन "दुनिया के सबसे बड़े जनतन्त्र" भारत का जनतन्त्र कितना पाखण्डपूर्ण और छद्म है, यह उसके संविधान के निर्माण और अब तक के विकास के मूल्यांकन से ही साफ़ हो जाता है। भारत में आज़ादी के बाद अस्तित्त्व में आये रुग्ण, बौने और विकलांग पूँजीवाद से ऐसे जनतन्त्र की ही अपेक्षा की जा सकती थी। निश्चित रूप से भारत के पूँजीवाद-विरोधी साम्राज्यवाद-विरोधी क्रान्तिकारी आन्दोलन का एक केन्द्रीय नारा यह भी होगा: **नयी संविधान सभा बुलाओ!**

●

कोपेनहेगेन पर्यावरण सम्मेलन

पूँजीवाद के रहते पर्यावरण बचाने के सारे प्रयास विफल होंगे

'होपेनहेगेन' से 'टोकेनहेगेन' से 'ब्रोकेनहेगेन'

• अभिनव

कल्पना कीजिये कि हम एक तार्किक दुनिया में रह रहे हैं (थोड़ा मुश्किल काम दे रहा हूँ, लेकिन एक बार प्रयास अवश्य कीजिये!)। अब सोचिये कि हमें पता चलता है कि कार्बन डाई ऑक्साइड व ग्रीन हाउस प्रभाव के लिए ज़िम्मेदार कुछ गैसों के उत्सर्जन के कारण पूरी पृथ्वी का तापमान बढ़ रहा है और अगर उसे न रोका गया तो पर्यावरण को भारी क्षति पहुँच सकती है और उनमें से कुछ नुकसान भरपाई योग्य नहीं होंगे। इसके बाद हमें पता चलता है कि इन ग्रीन हाउस प्रभाव वाली गैसों के उत्सर्जन का मुख्य कारण है जीवाश्म से पैदा ईंधन का हमारे द्वारा अपनी ऊर्जा आवश्यकताओं के लिए उपयोग। वैज्ञानिक हमें बताते कि अगर 2050 तक हमने कार्बन उत्सर्जन को नियंत्रि करके तापमान को 2 डिग्री सेल्सियस बढ़ने से रोका नहीं गया तो पारिस्थितिक सन्तुलन को काफ़ी नुकसान पहुँच सकता है। लेकिन साथ ही हमें वैज्ञानिक बताते कि घबराने की कोई बात नहीं है। ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोत मौजूद हैं और उन स्रोतों से उपयोग योग्य ऊर्जा के उत्पादन के लिए बड़े पैमाने पर कुछ विशेष तकनोलॉजियों पर शोध और कुछ विशेष यंत्रों का बड़े पैमाने पर उत्पादन ज़रूरी है। इसके लिए मानव शक्ति का संगठित उपयोग करने की आवश्यकता होगी। विश्व के विभिन्न देशों के प्रमुख इस मुद्दे पर मिलते, बातचीत करते और एकराय बनाकर समाधान को अमल में लाने की शुरुआत कर देते। जिसके पास तकनोलॉजी होती वह उसे साझा करता, जिसके पास मानव-बल होता, वह उसे साझा करता। लेकिन अफ़सोस इस पूरी अवधारणात्मक निर्मिति की नींव ही ग़लत है, इसलिए इन सारी कल्पनाओं को अपने दिमाग़ से साफ़ कर दीजिये। हम एक तार्किक दुनिया में नहीं रह रहे हैं! हम एक अराजक, मुनाफ़े की हवस में अन्धी, अव्यवस्थित, अमानवीय, और असंवेदनशील दुनिया में जी रहे हैं। हम एक पूँजीवादी दुनिया में जी रहे हैं जहाँ प्रतिस्पर्द्धा का दिव्य प्रदत्त नियम हर मानवीय संवेदना, मूल्य और सुन्दरता के ऊपर मुनाफ़े का पाटा चला रहा है; कारपोरेट घरानों और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हितों के आपसी टकराव और उनका प्रतिनिधित्व कर रहे अलग-अलग देशों के पूँजीवादी शासक वर्गों की जूतम-पैजार में मानवता और पर्यावरण, दोनों ही पिस रहे हैं। एक विशालकाय तेल कारपोरेशन के अध्यक्ष लॉर्ड ऑक्सबर्ग ने जनवरी 2005 में ग्रीनपीस बिज़नेस लेक्चर में इस पूरी बात को आश्चर्यजनक ईमानदारी से स्वीकार कर डाला, "आपको अच्छा लगे या न लगे, हम पूँजीवाद में जी रहे हैं। अगर हम शेल कम्पनी के रूप में दुनिया में जीवाश्मीय ईंधन उत्पादों को खोजना और निकालना उनकी माँग होने के बावजूद बन्द कर दें, तो हम एक कम्पनी के रूप में असफल हो जायेंगे। शेल किसी भी आर्थिक शक्ति के रूप में समाप्त हो जाएगा।" (इंडिपेंडेंट, 26 जनवरी, 2005) अब इसी कथन से ग्लोबल वार्मिंग वैज्ञानिक जेम्स हैंसेन के कथन को जोड़कर देखें: "बुनियादी समस्या यह है कि जीवाश्मीय ईंधन ऊर्जा का सबसे सस्ता और मुनाफा देने वाला स्रोत है। जब तक वह है तब तक उसका उपयोग होना ही है।" (लण्डन टाइम्स, 3 दिसंबर, 2009) जाहिर है एक मुनाफा-केन्द्रित और गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा पर आधारित व्यवस्था तात्कालिक मुनाफे के बारे में ही सोच सकती है, इसलिए पर्यावरण के प्रश्न पर सोच पाना उसके लिए मुश्किल होता है।

दिसम्बर 2009 में हुए कोपेनहेगन पर्यावरण सम्मेलन को जो अन्त हुआ, उसका वही अन्त हो सकता था। इस सम्मेलन में दुनिया के 130 देशों की सरकारों के प्रतिनिधि आए। सभी को पता है कि ग्लोबल वॉर्मिंग के नतीजे के तौर पर दुनिया का तापमान बढ़ रहा है और इसका ज़िम्मेदार अनियंत्रित कार्बन उत्सर्जन है और इस कार्बन उत्सर्जन का कारण जीवाश्मीय ईंधन का उपयोग है। लेकिन समस्या से लेकर उसके कारणों की जानकारी तक होने के बावजूद इस 130 देशों की सरकारें किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पायीं। क्योंकि यहाँ मसला सिर्फ़ पर्यावरण का ही नहीं था। पर्यावरण संरक्षण का अपना राजनीतिक अर्थशास्त्र है। एक पूँजीवाद दुनिया में, जो बड़े साम्राज्यवादी देशों, छोटे साम्राज्यवादी देशों, गैर-साम्राज्यवादी पूँजीवादी देशों, उन्नत देशों, पिछड़े देशों आदि श्रेणियों में बँटी हुई है, आम सहमति बनाकर कार्बन उत्सर्जन को कम करने के बोझ का न्यायपूर्ण बँटवारा भला कैसे हो सकता था? जाहिर था कि पहले से दुनिया पर दबदबा बनाए साम्राज्यवादी देश, जैसे अमेरिका, यूरोपीय संघ, जापान, आदि 'उभरती हुई अर्थव्यवस्थाओं' (चीन, भारत, ब्राज़ील, दक्षिण अफ्रीका, आदि) और पिछड़े देशों पर यह दबाव डालते कि

वे इस बोझ को अधिक उठायें। साथ ही यह भी स्वाभाविक था कि वे पूँजीवादी देश इसे कभी नहीं मानते जिनकी शक्ति में लगातार इजाफ़ा हो रहा है। उतना ही नैसर्गिक यह भी था कि अन्य पिछड़े हुए पूँजीवादी देश इन उभरती अर्थव्यवस्थाओं वाले देशों के पीछे गोलबन्द हो जाते। यही हुआ और कोपेनहेगेन सम्मेलन किसी आम राय पर ख़त्म नहीं हुआ और बुरी तरह से असफल रहा। इसके अन्त में एक कोपेनहेगेन एकॉर्ड जारी हुआ जिस पर सभी देशों की सहमति नहीं थी। 23 जनवरी को इस एकॉर्ड के आधार पर सम्मेलन के अध्यक्ष डेनमार्क के राष्ट्राध्यक्ष लार्स रास्मुसेन ने उन्नत देशों की तरफ़ से एक पत्र मनमोहन सिंह को भेजा जिसका मनमोहन सिंह ने काफी तीखा जवाब देते हुए कहा कि जब कोई आम राय बनी ही नहीं है, तो वे कोपेनहेगेन एकॉर्ड से बँधे हुए नहीं हैं और ब्राज़ील, चीन, दक्षिण अफ्रीका के साथ मिलकर अपनी राय वे 31 जनवरी तक बतायेंगे। साथ ही, उन्होंने इन तीनों देशों से अपनी एकजुटता बनाए रखने के लिए कहा। साफ़ है कि ये उभरती हुई अर्थव्यवस्थाएँ उन्नत साम्राज्यवादी देशों के नाजायज़ दबाव के समक्ष झुकने के लिए तैयार नहीं हैं। इन पूरे सम्मेलन में यही सबसे प्रमुख अन्तरविरोध था: विभिन्न साम्राज्यवादी शिविरों के बीच का अन्तरविरोध। इस पूरे अन्तरविरोध की अन्त:कथा जानने से पर्यावरण के राजनीतिक अर्थशास्त्र को समझने में काफ़ी मदद मिलती है।

होपेनहेगेन से टोकेनहेगेन

कोपेनहेगेन सम्मेलन शुरू होने से पहले ही दुनिया के जाने-माने अर्थशास्त्री और वैज्ञानिकगण कहने लगे थे कि इस सम्मेलन की नियति में असफलता ही लिखी है। लेकिन तमाम लोगों को इससे बड़ी आशाएँ भी थीं (होपेनहेगेन)। लोगों को लग रहा था कि हालाँकि साम्राज्यवाद मुनाफ़े की हवस में अन्धा है, लेकिन पर्यावरण का विनाश इन ख़तरनाक़ हदों तक पहुँचने लगेगा तो उसे भी सोचना ही पड़ेगा और इसलिए मानवता के अस्तित्त्व के दूरगामी हितों के मद्देनज़र कोई न कोई सफल सौदा तो कोपेनहेगेन में हो ही जाएगा। कोपेनहेगेन उनका होपेनहेगेन था! लेकिन जो कुछ हुआ वह कुछ इस प्रकार था।

शुरू से ही अमेरिका व यूरोपीय संघ और जी-77 व चीन के बीच अन्तरविरोध उभरकर सामने आने लगे। यह अन्तरविरोध क्या था इसे भी समझ लेना ज़रूरी है। जी-77 (जिसमें अफ्रीका, एशिया और लातिनी अमेरिका के तमाम विकासशील और कम विकसित देश मौजूद हैं) और चीन का मानना था कि अमेरिका और यूरोपीय संघ को क्योटो प्रोटोकॉल का अनुपालन करना चाहिए। साथ ही वे बाली एक्शन प्लान को लागू करने की बात कर रहे थे। चीन, ब्राज़ील, भारत और दक्षिण अफ्रीका ने अपना गुट तैयार कर लिया जिसका नाम 'बेसिक' देश पड़ गया। बेसिक देशों का क्योटो प्रोटोकॉल पर ज़ोर होने का एक कारण है। पिछले दशक में चीन का कार्बन उत्सर्जन औसतन अमेरिका के क़रीब पहुँचने लग गया है और हालिया कुछ वर्षों में यह अमेरिका से भी ज़्यादा है। चीन की वृद्धि के आधार में कोयला और तेल आधारित उद्योग हैं। इन्हीं उद्योगों के बूते और साथ ही मज़दूरों के भयंकर शोषण के बूते चीन पिछले कई वर्षों से ज़बर्दस्त वृद्धि दर से विकास कर रहा है। अमेरिकी और यूरोपीय उन्नत अर्थव्यवस्थाएँ संकट की मार सबसे ज़्यादा झेल रही हैं और उन्हें चीन और भारत की अर्थव्यवस्थाओं से भविष्य में चुनौती मिलने की सम्भावना पैदा हो रही है। अमेरिका और यूरोपीय संघ इस बात को अच्छी तरह से समझते हैं कि अगर चीन और भारत जैसे देशों पर कोई ऐसा अन्तरराष्ट्रीय समझौता थोप दिया जाय जो उन्हें जीवाश्मीय ईंधन का उपयोग सीमित रूप से करने पर बाध्य कर दे तो उनकी भावी चुनौती को पहले ही कमज़ोर किया जा सकता है। चीन की अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ हैं और अपनी बढ़ती आर्थिक ताक़त के बूते पर बीते साल जी-20 शिखर सम्मेलन में भी उसने तमाम उन्नत देशों को अपनी कई शर्तों पर झुकाया था। चीन लातिन अमेरिका, मध्य-पूर्व और अफ्रीकी देशों में अपने निवेश को तेज़ी से बढ़ा रहा है और दुनिया भर के बाज़ारों में अमेरिका और यूरोपीय संघ को चुनौती दे रहा है। यह अमेरिका और यूरोपीय संघ के लिए भारी चिन्ता का विषय है। साथ ही, यूरोपीय संघ दोहरे तौर पर फँसा हुआ है। अमेरिका के पास तो फिर भी अपने उपयोग लायक तेल है लेकिन यूरोपीय संघ के पास तेल के भण्डार नगण्य हैं। तेल और प्राकृतिक गैस की अपनी ज़रूरतों के लिए वह पूरी तरह से रूस पर निर्भर है। रूस एक और शक्तिशाली चुनौती है जो भविष्य में अमेरिका और यूरोपीय संघ की चौधराहट का इन्तज़ार कर रही है। पुतिन और मेदवेदेव के कथनों का मूल्यांकन करें तो जाहिर होता है कि रूस अपनी पहले से मज़बूत उत्पादक शक्तियों की नींव पर तकनोलॉजी आधारित अर्थव्यवस्था की अट्टालिका के निर्माण में लगा हुआ है और ईंधन और तकनोलॉजी-सघन अर्थव्यवस्था होने के आधार पर वह दुनिया की किसी भी ताक़त को आर्थिक से लेकर सैन्य, हर मोर्चे पर चुनौती दे सकता है। यही कारण है कि वह जीवाश्मीय ईंधन के उपयोग को कम और सीमित करने के लिए यूरोपीय संघ और अधिक चिन्तित है। अब बेसिक देश या 'उभरती हुई अर्थव्यवस्थाएँ' क्योटो प्रोटोकॉल को लागू करने की बात इसलिए करती हैं कि क्योंकि क्योटो प्रोटोकॉल दुनिया के सभी देशों को दो श्रेणियों में बाँटता है – उन्नत देश और विकासशील देश। इसमें उन्नत देशों के लिए कार्बन उत्सर्जन में कटौती के लिए जो पैमाना तैयार किया गया है वह कहता है कि 1990 के कार्बन उत्सर्जन के स्तर में इन देशों को 40 प्रतिशत की कटौती करनी चाहिए। विकासशील देशों को क्योटो प्रोटोकॉल ग्लोबल वार्मिंग के लिए मुख्य रूप से ज़िम्मेदार नहीं मानता है। प्रति व्यक्ति कार्बन उत्सर्जन के मामले में आज भी अमेरिका और यूरोपीय संघ चीन और भारत जैसे देशों के मुकाबले मीलों आगे हैं। इन देशों ने आज उन्नत देश होने का दर्ज़ा औद्योगिक क्रान्ति के बाद के दो सौ वर्षों में पर्यावरण को लगातार तबाह करके ही हासिल किया है। आज यूरोपीय संघ और अमेरिका जहाँ

खड़े हैं उसके पीछे यह एक बहुत बड़ा कारण है। आज जब चीन और भारत जैसी अर्थव्यवस्थाएँ उसी पूँजीवादी रास्ते पर चलकर पर्यावरण को तबाह करते हुए तरक्की की सीढ़ियाँ चढ़ना चाहती हैं जो साम्राज्यवादी देश उन्हें पर्यावरण संरक्षण और हरित ऊर्जा के उपदेश दे रहे हैं। क्योटो प्रोटोकॉल को लागू करने का मतलब होगा कि वैश्विक साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा में उभरती हुई अर्थव्यवस्थाएँ बहुत तेज़ी से पहले से दुनिया पर प्रभुत्व जमाए बैठे साम्राज्यवादी देशों के बगल में आकर खड़ी हो जायेंगी और उनके साथ ताक़त साझा करना उनकी मजबूरी बन जाएगा, जैसा कि हालिया जी-20 शिखर सम्मेलन में हुआ है।

यही कारण है कि उन्नत देशों में से अधिकांश क्योटो प्रोटोकॉल को या तो मानते ही नहीं हैं या उस पर अमल नहीं करते हैं। लेकिन वे स्वयं कोपेनहेगेन सम्मेलन में विकासशील देशों और विशेषकर चीन पर यह दबाव डाल रहे थे कि वे अपने कार्बन उत्सर्जन में कमी करें। क्योंकि अगर चीन और भारत जैसे देश ऐसा करेंगे तो वे उस वृद्धि दर पर विकास नहीं कर सकेंगे जिस वृद्धि दर पर वे पिछले लगभग तीन दशकों से कर रहे हैं। हरित विकास की तकनोलॉजी विश्व भर में बहुत अधिक उन्नत नहीं की गयी है, क्योंकि इस पर निवेश ही नहीं किया गया है। जितनी हरित तकनोलॉजी है वह भी उन्नत देशों के पास ही है और वे उसे विकासशील देशों से साझा नहीं करने वाले। अमेरिका के राष्ट्रपति बराक ओबामा शान्ति का नोबेल पुरस्कार प्राप्त करने और शान्ति पर लम्बी-चौड़ी डींगें हाँकने और अमेरिका को उसके सभी अपराधों से दोषमुक्त करने के बाद सीधे कोपेनहेगेन पहुँचे और उन्होंने साफ़ कर दिया कि अमेरिका कार्बन उत्सर्जन में 17 से 19 प्रतिशत से अधिक कमी नहीं कर सकता, और वह भी 1990 के स्तर से 17-19 फीसदी कम नहीं बल्कि वर्तमान स्तर से 17-19 से कम। यानी, इस कटौती के बाद अमेरिका का कार्बन उत्सर्जन 1990 के स्तर पर पहुँचेगा। जबकि किसी भी अर्थपूर्ण कमी के लिए अमेरिका को अपने कार्बन उत्सर्जन में 1990 के स्तर से 40 प्रतिशत कमी करने की आवश्यकता होगी। अमेरिका का प्रति व्यक्ति कार्बन उत्सर्जन औसत विश्व में सर्वाधिक है। ओबामा ने साफ़ कहा कि अमेरिका लोग एक विशेष जीवन शैली के आदी हो चुके हैं और वे उसमें समझौता नहीं कर सकते। यानी, अमेरिका भकोसने-लीलने की उपभोक्तावादी पूँजीवादी जीवन पद्धति को जारी रखेगा। दुनिया को बड़ी फिक्र है ग्लोबल वार्मिंग की तो वह घटा ले अपना कार्बन उत्सर्जन। आज अमेरिका अकेले दुनिया का एक-चौथाई से अधिक कार्बन उत्सर्जित करता है। अमेरिकी दीवालिया जीवन शैली की कीमत बाकी देश क्यों चुकायें? बेसिक देशों के नेतृत्व में दुनिया के विकासशील देशों ने कोपेनहेगेन में घुटने टेकने से इन्कार कर दिया। इसके बाद, अमेरिका और ब्रिटेन ने अपना असली रूप दिखलाया। घूस देने से लेकर बाँह मरोड़ने तक की हर तरकीब को इस्तेमाल किया गया। अनुदान रोकने, कर्ज़ देना बन्द करने से लेकर कर्ज़ माफ़ न करने तक की धमकी दी गयी। लेकिन इसका विशेष असर नहीं हुआ और विकसित देश मनमाने तरीक़े से बनाए गए कोपेनहेगन एकॉर्ड पर विकासशील देशों से हस्ताक्षर करवाने में असफल रहे। यहीं से होपेनहेगेन टोकेनहेगेन में तब्दील हो गया क्योंकि अब जो कुछ होना था वह अधिक से अधिक प्रतीकात्मक ही हो सकता था। लेकिन यह भी न हो सका।

टोकेनहेगेन से ब्रोकेनहेगेन

विकसित देशों की ओर से साज़िशाना तरीक़े से कोपेनहेगेन सम्मेलन के इस्तेमाल का काम सम्मेलन के अधयक्ष और मेज़बान देश डेनमार्क के राष्ट्रपति लार्स रास्मुसेन कर रहे थे। उनकी योजना यह थी कि जब सम्मेलन के बाकी सभी देश पर्यावरण संरक्षण के लिए सबको स्वीकार्य संभावित नीति को ढूँढने के लिए कार्यसमूहों में बहस कर रहे होंगे उस समय चुने हुए 26 विकसित देश अपनी गोपनीय बैठक करके एक समझौते का मसौदा तैयार करेंगे जो उनके हितों की रक्षा के लिए होगा। शुरुआत में ही वेनेजुएला समेत कुछ अन्य देशों ने इस ग़ैर-जनवादी कार्यपद्धति का बहिष्कार किया और कह दिया कि इसके नतीजे के तौर पर आने वाले किसी भी समझौते के वे अंग नहीं होंगे। जब सम्मेलन के आखिरी दो दिन बचे तब रास्मुसेन ने कोपेनहेगेन एकॉर्ड को बाकी देशों के सामने रखा, ताकि वे इस पर सोचने का अधिक समय न प्राप्त कर सकें और उस पर राज़ी हो जायें। लेकिन रास्मुसेन को ऐसा करते ही भारी प्रतिरोध और आलोचना का सामना करना पड़ा। अन्य प्रतिनिधियों ने रास्मुसेन पर संयुक्त राष्ट्र चार्टर, सिद्धान्तों और प्रथाओं के उल्लंघन का आरोप लगाया और इस एकॉर्ड को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया।

इसके बाद खुले तौर पर विकसित देशों की धमकियों और घूस देने की पेशकश का दौर शुरू हुआ। यह पूरी प्रक्रिया इतनी नंगी हो गयी जिसका अनुमान भी किसी ने नहीं लगाया था। ब्रिटेन के पर्यावरण मन्त्री एड मिलीबैण्ड ने कहा, हम अनुदान रोक लेंगे। अमेरिकी प्रतिनिधि का कहना था कि इस एकॉर्ड से जुड़ा हुआ एक फण्ड होगा जिससे कोई भी ऐसा देश पैसा ले सकेगा जो इस पर राज़ी है। यानी कि अगर अनुदान और कर्ज़ चाहिए तो हमारे द्वारा तैयार मसौदे पर दस्तख़त कर दो! लेकिन ये सारी तरक़ीबें सफल नहीं हो पाई। चीन, भारत, दक्षिण अफ्रीका और ब्राज़ील जैसे उभरते पूँजीवादी देशों का पूँजीपति वर्ग अपनी बढ़ती आर्थिक शक्तिमत्ता के साथ अपने हितों पर अधिक से अधिक अड़ रहा है। उसने यह इशारा भी किया कि वह पूरी तरह से पिछड़े देशों के साथ नहीं है, लेकिन साथ ही उन्नत देशों को चेताया भी कि अगर ज़रूरत से ज़्यादा दबाव डालने की कोशिश की गयी तो वे उसका संगठित प्रतिरोध करेंगे।

जहाँ तक कोपेनहेगेन एकॉर्ड का प्रश्न है वह महज़ ढाई पेज का एक छोटा-सा दस्तावेज़ है। आम तौर पर संयुक्त राष्ट्र के पर्यावरण सम्मेलनों के दस्तावेज़ इतने छोटे कभी नहीं होते। लेकिन जब साम्राज्यवादी देशों को बस अपने आदेश थोपने का प्रयास करना हो तो वे ढाई पेज से ज़्यादा क्या लिखेंगे। इसमें

कहा गया है कि निश्चित रूप से विश्व के तापमान को 2 डिग्री सेल्सियस से अधिक नहीं बढ़ने देना है और इसके लिए कार्बन उत्सर्जन में कमी करने की आवश्यकता है। लेकिन इसका बोझ किस तरह साझा किया जाएगा इसके बारे में कुछ भी साफ़-साफ़ नहीं कहा गया है। इसके बाद विकासशील देशों को ललचाने के लिए 2010 से 2012 के बीच 30 खरब डॉलर अनुदान देने की पेशकश की गयी है जो वास्तव में विकासशील देशों द्वारा कार्बन उत्सर्जन कम करने की कीमत है(या कहा जा सकता है कि खुद कार्बन उत्सर्जन करते रहने के अधिकार की कीमत। लेकिन ऐसी ही अनुदान राशि ये साम्राज्यवादी देश संयुक्त राष्ट्र के पर्यावरण संरक्षण अभियान को देने की घोषणा पहले ही कर चुके हैं। यह स्पष्ट भी नहीं किया गया है कि वे यह 30 खरब डॉलर अलग से देंगे या फिर वे उसी रकम की बात कर रहे हैं जो संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम को दी जाएगी। इसके अलावा उन्होंने हर वर्ष 100 खरब डॉलर कार्बन उत्सर्जन में कमी के लिए जुटाने का "प्रयास करने का वायदा" किया है। जाहिर है यह कोई प्रतिबद्धता नहीं है। लेकिन सबसे लम्बा पैराग्राफ इस बात पर है कि विकासशील देशों को कार्बन उत्सर्जन में कमी के लिए क्या करना चाहिए। हर वर्ष उत्सर्जन में कमी को नापने आदि की बात सुझायी गयी है और ओबामा ने इस एकॉर्ड की प्रस्तुति के बाद चीन पर विशेष रूप से उत्सर्जन कम करने के लिए दबाव डाला। कहने की ज़रूरत नहीं है कि इस एकॉर्ड पर चीन और जी-77 का एक भी देश सहमत नहीं हुआ और इसके साथ ही टोकेनहेगेन ब्रोकेनहेगेन में तब्दील हो गया। सम्मेलन असफल होकर टूट चुका था।

इसके बाद दोष मढ़ने का सिलसिला शुरू हुआ। विकसित देशों ने विशेष रूप से चीन को ज़िम्मेदार ठहराना शुरू किया। लेकिन साफ़ है कि सम्मेलन की असफलता का मुख्य कारण था क्योटो प्रोटोकॉल और बाली एक्शन प्लान को किनारे करने का साम्राज्यवादी देशों द्वारा प्रयास। जबकि विकासशील देशों का ज़ोर इसी बात पर था कि क्योटो प्रोटोकॉल पर अमल किया जाय और उसके 2012 के बाद भी जारी रखा जाय।

उभरते पूँजीवादी देशों के पूँजीपति वर्ग का अपने साम्राज्यवादी बड़े भाइयों से एक ही सवाल था: तुम्हारे ऐतिहासिक पापों का प्रायश्चित हम क्यों करें?

चीन और भारत जैसी उभरती पूँजीवादी ताक़तों ने, जिनकी अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ हैं, कोपेनहेगेन में अमेरिका और यूरोपीय संघ से एक ही सवाल पूछा। पिछले 200 वर्षों में पर्यावरण को तुमने जितना तबाह किया है तो उसकी भरपाई आज हम क्यों करें? अब हम तरक्की कर रहे हैं और हमारी तरक्की कोयले और तेल पर ही टिकी है, तो उसका उपयोग तो हम करेंगे ही! ग़ौरतलब है कि वैज्ञानिक अनुमान के अनुसार मानवता 2050 तक 10000 खरब टन कार्बन डाई ऑक्साइड से अधिक उत्सर्जित नहीं कर सकती। वरना धरती का तापमान 2 डिग्री सेल्सियस से अधिक बढ़ जाएगा और कई द्वीप देशों का अस्तित्त्व ही समाप्त होने की नौबत पैदा हो जाएगी। इस सीमा को कार्बन स्पेस कहा जाता है। मौजूदा कार्बन स्पेस में जितना हिस्सा भर चुका है उसका 75 प्रतिशत विकसित देशों के कारण भरा है, जबकि विश्व जनसंख्या में उनकी कुल जनसंख्या का हिस्सा मात्र 19 प्रतिशत है। इसलिए अगर विकसित देश कार्बन उत्सर्जन को 1990 के स्तर से 40 प्रतिशत तक कम करने का कोई एकतरफ़ा वायदा भी करें तो उनके साथ कोई अन्याय नहीं होगा। यह तो अतीत के पाप धुलने का एक प्रयास मात्र ही माना जाएगा! दूसरी बात यह है कि विकसित देश तुरन्त कार्बन उत्सर्जन कम करने की बात नहीं कर रहे हैं बल्कि अपने लिए दूरगामी लक्ष्य तय कर रहे हैं जैसे कि 2050। इसका कारण यह है कि तब तक कार्बन स्पेस का बहुत बड़ा हिस्सा वे भर डालेंगे और विकासशील देशों के लिए उत्सर्जन करने के लिए स्पेस ही नहीं बचेगा। हरित तकनोलॉजी जितनी है वह विकसित देशों के पास है और बहुत महँगी है। यानी, उसके बाद विकासशील देशों के पास कोई मौका ही नहीं रह जाएगा प्रतिस्पर्द्धा करने का! इसलिए विकासशील देशों का पूँजीपति वर्ग माँग कर रहा है कि अपने कार्बन उत्सर्जन में हम किसी कमी का वायदा तभी करेंगे जब विकसित देश अपने उत्सर्जन में क्योटो प्रोटोकॉल के अनुसार तत्काल कटौती करें।

निष्कर्ष

बताने की ज़रूरत नहीं है कि इस प्रश्न पर कोई आम सहमति बन पाना बहुत मुश्किल है। प्रतिस्पर्द्धा और बाज़ार की अन्धी ताक़तों पर टिकी एक पूँजीवादी दुनिया में विभिन्न देशों के पूँजीवादी लुटेरे कभी एकजुट होकर मानवता के दूरगामी हित के बारे में नहीं सोच सकते हैं। मुनाफे की गलाकाटू प्रतियोगिता और एक-दूसरे को ही निगल जाने की दौड़ उन्हें कभी इस प्रश्न पर सोचने की इजाज़त नहीं दे सकती। जिस पर्यावरणीय आपदा को पूँजीवादी मीडिया अक्सर मानव जनित आपदा करार देता है वह वास्तव में मानव जनित आपदा नहीं बल्कि पूँजीवाद जनित आपदा है। यह इस दुनिया का 90 फीसदी मेहनतकश अवाम नहीं है जो पर्यावरण को तबाह कर रहा है, बल्कि इस दुनिया के आदमखोर राष्ट्रपारीय-बहुराष्ट्रीय निगम हैं जो पर्यावरण को तबाह कर रहे हैं। दुनिया भर की पूँजीवादी सरकारें इन्हीं कारपोरेट पूँजीवादी हितों की नुमाइंदगी करती हैं और आपस में गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा चलाती रहती हैं। इस पूरे खेल में इंसानों की जान या पर्यावरण संरक्षण का कोई मूल्य नहीं है। यह अपने आप में एक अतार्किक व्यवस्था है जो इंसानों की ज़िन्दगी के साथ-साथ इस पूरे ग्रह को ही तबाह कर रही है। निश्चित रूप से हम उन पर्यावरणविदों की तरह निराशावादी विनाशवाद के शिकार नहीं हैं जो कहते हैं कि पर्यावरण की अपूरणीय क्षति जारी है और जल्दी ही बहुत देर हो जाएगी और यह पृथ्वी ही मानवीय जीवन के लिए अनुपयुक्त हो जाएगी। हमारा मानना है कि इस पृथ्वी के अरबों मेहनतकश जो अलग-अलग देशों में पूँजीवादी व्यवस्था और साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ रहे हैं वे ऐसे प्रलय (एपोकैलिप्स) की मंज़िल नहीं आने देंगे। उससे पहले ही यह पागल और उन्मादी पूँजीवादी

व्यवस्था उखाड़ फेंकी जाएगी और एक मानव-केन्द्रित व्यवस्था के निर्माण का काम शुरू हो जाएगा। इंसान पूँजीवाद को दुनिया तबाह करने देने और चुपचाप तमाशा देखने की बजाय पूँजीवाद को ही तबाह कर डालेगा। हमें मानवता के विवेक पर पूरा भरोसा है।

दूसरी बात यह है कि "अपूरणीय क्षति", ग्लोबल वार्मिंग, ग्लेशियरों के पिघल जाने की जो बात की जा रही है वह अवैज्ञानिक भी है। पृथ्वी का भू-इतिहास बताता है कि पृथ्वी का पर्यावरण किसी सीधी रेखा में विकास नहीं कर रहा है। इसमें ग्लोबल वार्मिंग के दौर और हिम युग जैसे दौर कई बार पहले भी आ चुके हैं। हालाँकि हर बार वे पिछली बार की तरह नहीं होते। उनमें कई परिवर्तन होते हैं और साथ ही कई निरंतरता के तत्त्व भी होते हैं। इन चक्रों से होते हुए ही पृथ्वी का पर्यावरण और पारिस्थितिकी यहाँ तक पहुँची है। दूसरी बात जो हमें इस ग्रह का इतिहास बताता है कि मनुष्य में बदलती पारिस्थितिकी के अनुसार अपने आपको अनुकूलित करने की अभूतपूर्व क्षमता होती है। अगर निअण्डरथल मानव या ऑस्ट्रेलियोपिथिकस को उठाकर आज की पारिस्थितिकी में रख दिया जाय तो उसके लिए जीना बहुत कठिन हो जाएगा! तब से अब तक बदलती पारिस्थितिकी और पर्यावरण के अनुसार मानव जाति ने अपने आपको अनुकूलित किया है। आगे भी होने वाले परिवर्तनों के अनुसार मनुष्य अपने आपको अनुकूलित करेगा। जहाँ यह बात बिल्कुल सच है कि आज हो रही ग्लोबल वार्मिंग और उसके कारण हो रहे नुकसानों का अपराधी पूँजीवाद है और उसकी सज़ा यही है कि उसे इतिहास की कचरापेटी में पहुँचा दिया जाय, वहीं यह भी सच है कि ग्लोबल वार्मिंग जैसे पारिस्थितिकी परिवर्तन भविष्य में हो सकते हैं और मनुष्य इसके अनुसार अपने आपको अनुकूलित करेगा। तीसरी बात, पूँजीवाद ने पर्यावरण को क्षति पहुँचायी है उसमें अपूरणीय क्षति के पहलू पर अत्यधिक ज़ोर देना भी अवैज्ञानिक है। मनुष्य एकमात्र प्रजाति है जो प्रकृति के साथ एक सचेतन सम्बन्ध बनाती है। एक आदमखोर मुनाफा-केन्द्रित व्यवस्था में यह सम्बन्ध अन्तरविरोध का और विजय प्राप्त करने का सम्बन्ध बन जाता है। एक मानव-केन्द्रित व्यवस्था में यह सम्बन्ध एक परस्पर निर्भरता और सहअस्तित्त्व का सम्बन्ध भी बन सकता है। मनुष्य पर्यावरण से जितना लेता है उतना ही उसे लौटा भी सकता है। अगर वह पर्यावरण से अपने तमाम संसाधनों को लेता है तो वह पर्यावरण को रीजेनरेट भी कर सकता है। यह वैज्ञानिक रूप से सिद्ध तथ्य है।

अब अन्त में एक बार फिर से यह कल्पना की जाय कि हम एक तार्किक व्यवस्था में जी रहे हैं। ऐसे में हम निश्चित रूप से पर्यावरण को और समृद्ध, सुन्दर और वैविधयपूर्ण बनाने के लिए मानव ऊर्जा का सूक्ष्मतम और व्यापकतम उपयोग करेंगे। चूँकि मुनाफ़ा और निवेश मानव प्रयासों के रास्ते में अब बाधा नहीं रह गये होंगे, इसलिए ऐसे कामों को अंजाम देने के लिए सिर्फ़ चार ही चीज़ों की आवश्यकता होगी-विवेक, इच्छा, योजना और संगठित मानव प्रयास। हम पर्यावरण के साथ एक परस्पर निर्भरता और सहअस्तित्त्व के साथ रहना सीखेंगे और सिखायेंगे। यह एक ऐसी व्यवस्था में ही सम्भव हो सकता है जिसमें मुनाफ़े की ख़ातिर मनुष्य द्वारा मनुष्य द्वारा शोषण समाप्त हो जाए; जिसमें निजी मालिकाने और गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा की जगह सामूहिक मालिकाने और संगठित मानव प्रयास ले लें; जिसमें उत्पादन, राज-काज और समाज के ढाँचे पर उत्पादन करने वाले वर्गों का हक़ हो और फैसला लेने की ताक़त उनके हाथों में हो!

तीन नयी महत्त्वपूर्ण बिगुल पुस्तिकाएँ

1.	**राजधानी के मेहनतकश : एक अध्ययन**	अभिनव	15.00
2.	**फ़ासीवाद क्या है और इससे कैसे लड़ें?**	अभिनव	15.00
3.	**नेपाली क्रान्ति : इतिहास, वर्तमान परिस्थिति और आगे के रास्ते से जुड़ी कुछ बातें, कुछ विचार**	आलोक रंजन	50.00

प्राप्त करने के लिए संपर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226020

यू.पी.ए. सरकार की अघोषित नयी शिक्षा नीति

शिक्षा के क्षेत्र में सामाजिक पदानुक्रम को पैठाने और निजी मुनाफ़े को बढ़ाने को समर्पित

● अभिनव

पिछले दो-तीन वर्षों में यू.पी.ए. सरकार ने शिक्षा के क्षेत्र में कई नीतिगत बदलाव किये हैं। राष्ट्रीय ज्ञान आयोग की सिफारिशों के बाद, यशपाल समिति की सिफारिशें, शिक्षा का अधिकार अधिनियम और उच्च शिक्षा बिल 2009 इन्हीं नीतिगत परिवर्तनों की ओर इशारा करते हैं। शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण और उदारीकरण की नीतियों को मनमोहन सरकार ने बहुत ही शातिराना तरीक़े से लागू करना शुरू किया है। यह पूरी प्रक्रिया कुछ इस तरह से चलायी गयी है कि सरकार की तमाम नयी शिक्षा नीतियाँ शिक्षाविदों को काफी जनपक्षधर नज़र आ रही हैं। ताज्जुब की बात है कि ये शिक्षाशास्त्री इन नीतियों का ढंग से अध्ययन भी नहीं करते और महज़ बाजारू कारपोरेट मीडिया की कही-सुनी पर विश्वास करते हुए मनमोहन सरकार को कल्याणकारी राज्य की भूमिका अदा करने के लिए धन्यवाद ज्ञापन करते नज़र आते हैं। मनमोहन सरकार को और उसके मानव संसाधन मन्त्री कपिल सिब्बल के जिस क़दम के हाल में मीडिया ने सिर-आंखों पर बिठा लिया, वह है 'शिक्षा का अधिकार' अधिनियम 2009। इसके तहत 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए पड़ोस के सरकारी स्कूल में शिक्षा को अनिवार्य बना दिया गया। लेकिन इस अधिनियम की बारीकियों का विश्लेषण हमें बाज़ारू मीडिया में नहीं मिला। मिला तो बस कपिल सिब्बल और मनमोहन सरकार का यशगान! इस क़दम को ऐतिहासिक बताया गया! आज़ाद भारत के इतिहास में इसे एक मील का पत्थर करार दिया गया! यशपाल समिति की सिफारिशों और उच्च शिक्षा बिल 2009 के आने तक तो मीडिया सरकार के यशगान की कीर्तन मण्डली में तब्दील हो चुका था। खाता-पीता मध्यवर्ग कपिल सिब्बल में एक प्रबुद्ध प्रशासक को देख रहा है और उनके द्वारा लाए जाने वाले परिवर्तनों को युग-प्रवर्तनकारी मान रहा है। क्यों न माने? उनके लिए ही तो कपिल सिब्बल ने ये क्रान्तिकारी क़दम उठाए हैं! सबसे अहम बात यह है कि आम समझदारी और विशेषज्ञ समझदारी, दोनों में ही इन नयी नीतियों द्वारा लाए जाने वाले सारभूत परिवर्तनों को नहीं समझा गया है। ये नीतियाँ अपने आप में उतना बड़ा परिवर्तन लाने वाली हैं जितना बड़ा परिवर्तन राजीव गांधी की नयी शिक्षा नीति, 1986 से आया था। शिक्षा क्षेत्र में ये परिवर्तन भारत के आज के पूँजीवाद की ज़रूरतों के मुताबिक शिक्षा को ढालने का काम करने वाले हैं। दूसरी बात यह कि इस काम को ये नीतियाँ ऐसे अंजाम देंगी मानो कि वे जनता के पक्ष में किये जाने वाले काम हों। यानी, नाम जनता का और काम पूँजीपतियों और कारपोरेट घरानों का! इस बात को बारीकी से समझने के लिए इन नीतियों की एक-एक करके समीक्षा ज़रूरी है।

सबसे पहले शिक्षा का अधिकार अधिनियम 2009, क्योंकि इसी को लेकर मीडिया से लेकर अज्ञानी मध्यवर्ग में आनन्दातिरेक की लहर है। यह अधिनियम 6 से 14 वर्ष के बच्चों के लिए पड़ोस के सरकारी स्कूलों में निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का प्रावधान करता है। यह सुप्रीम कोर्ट के उन्नीकृष्णन निर्णय का हवाला देते हुए उसे लागू करने की बात करता है। यह कोरी लफ़्फ़ाज़ी है। उन्नीकृष्णन निर्णय ने कहा था कि 14 वर्ष तक के बच्चों के निशुल्क शिक्षा की जिम्मेदारी सरकार की होनी चाहिए। यदि अधिनियम 0 से 6 वर्ष के बच्चों को इस अधिकार के दायरे में शामिल नहीं करता है तो स्पष्ट है कि 70 प्रतिशत ऐसे बच्चों को इस अधिनियम से कोई लाभ नहीं मिलने वाला जो स्कूल नहीं जा पाते हैं। ज्ञात हो कि भारत में 7 करोड़ बच्चे स्कूल नहीं जा पाते हैं। इस संख्या का सत्तर प्रतिशत यानी क़रीब 4.9 करोड़ बच्चे। अगर वयस्कता से पहले इंसान को बच्चा माना जाय तो 15.7 करोड़ बच्चे इस अधिनियम के कवरेज एरिया से बाहर हैं। दुनिया भर के शिक्षाविद मानते हैं कि 0 से 6 वर्ष के उम्र में ही बच्चों के मनोविज्ञान का बुनियादी निर्माण होता है। इसके बावजूद इस अधिनियम द्वारा 0 से 6 वर्ष के बच्चों के स्कूली शिक्षा के अधिकार को शामिल न किया जाना कई सवाल उठाता है।

दूसरी बात यह है कि यदि यह अधिनियम मात्र 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए ही शिक्षा के अधिकार को मूलभूत अधिकार मानता है तो इसका अर्थ हुआ कि सरकार 8वीं तक ही बच्चों के शिक्षा के अधिकार को मूलभूत अधिकार मानती है। शिक्षा महज़ अपना नाम लिखना सीखने और जोड़-घटाना व गुणा-भाग सीखने के लिए नहीं होती।

यह एक नागरिक को लाभपूर्ण रोज़गार (गेनफुल एम्प्लॉयमेण्ट) के योग्य बनाने के लिए होती है। सरकार के ही मापदण्डों के अनुसार 8वीं तक की शिक्षा लाभपूर्ण रोज़गार प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं है। यह बात आसानी से समझी जा सकती है जब देश में स्नातक-स्नातकोत्तर की डिग्रियाँ लिए नौजवान करोड़ों की संख्या में बेरोज़गार घूम रहे हों!

तीसरी बात-इस अधिनियम के बाद बच्चों को निशुल्क शिक्षा पड़ोस के स्कूल में मिल सके इसके लिए सरकार ने सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था में निवेश को बढ़ाया नहीं है। बल्कि उसने यह किया है कि निजी स्कूलों में ग़रीब बच्चों के लिए 25 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान कर दिया है। इस पर तमाम निजी स्कूलों ने विरोध किया है। जाहिर है कि अमीरजादों के बच्चों को ''विश्वस्तरीय और कुलीन शिक्षा'' देने के लिए बनाए गए इन स्कूलों में अगर ग़रीबों के बच्चों का दाखिला होगा तो इन निजी स्कूलों को आपत्ति तो होगी ही! इसके अतिरिक्त, ग़रीब बच्चों के लिए 25 प्रतिशत आरक्षण का यह नियम किसी भी सूरत में लागू नहीं हो सकता है, यह आसानी से समझा जा सकता है। स्कूली शिक्षा में निजी स्कूलों के व्यवसाय की कुल कीमत इस समय 160,000 करोड़ रुपये है। इस मुनाफे के पूरे ढाँचे को सरकार किसी भी रूप में छेड़ने वाली नहीं है। स्कूली शिक्षा में पब्लिक-प्राईवेट पार्टनरशिप के जुमले के तहत स्कूली शिक्षा के ग़रीब बच्चों के अधिकार को सुनिश्चित करने की बात महज एक शोशा है।

चौथी और सबसे अहम बात – जब तक पूरे देश में एक साझा स्कूल व्यवस्था (कॉमन स्कूल सिस्टम) लागू नहीं किया जाता, तब तक शिक्षा के अधिकार जैसे किसी भी अधिनियम का कोई अर्थ नहीं है। यह समाज में मौजूद ऊँच-नीच को और गहराई से स्कूली शिक्षा की व्यवस्था में पैठा देगा। ऐसा कोई भी अधिनियम अगर शिक्षा व्यवस्था में एकसमान गुणवत्ता को स्थापित नहीं करता है तो क्या लाभ? ग़रीबों को घटिया और अमीरों को बढ़िया शिक्षा! बस यही होगा। अभी हाल ही में कुछ स्वयंसेवी संगठनों ने सरकार से पूछा कि स्कूली शिक्षा में प्रति विद्यार्थी सरकार कितना ख़र्च करती है। इस पर सरकार ने माना कि उसके पास कोई ऐसा आंकड़ा नहीं है और विभिन्न प्रकार के सरकारी स्कूल होने के कारण इसका आकलन करना ही लगभग असम्भव है। साफ़ है कि सरकारी स्कूलों में शिक्षा की गुणवत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि आप किस वर्ग से आते हैं। सरकारी स्कूलों में शिक्षा के पदानुक्रम को साफ़ तौर पर देखा जा सकता है। इस पदानुक्रम में सबसे ऊपर हैं केन्द्रीय विद्यालय, जिनमें प्रति छात्र खर्च क़रीब 12,000 रुपये प्रति वर्ष होता है। इसके बाद आते हैं नवोदय विद्यालय, जिनमें यह खर्च क़रीब 15,000 रुपये प्रति वर्ष होता है, लेकिन प्रतिष्ठा के मामले में वे केन्द्रीय विद्यालय से पीछे हैं। इसके बाद सैनिक स्कूल आते हैं। और फिर इसके नीचे निहायत खराब गुणवत्ता वाले नगर निगम के विद्यालय आते हैं जिनमें प्रति छात्र प्रति वर्ष खर्च 1800 से 2500 रुपये के बीच होता है। यह पदानुक्रम संविधान की धारा 14, 21 और 21ए का उल्लंघन है जो समान शिक्षा को बच्चों का जन्मसिद्ध अधिकार घोषित करती है। पैसे के बल पर शिक्षा की अलग-अलग गुणवत्ताओं की उपलब्धता सीधे-सीधे पूँजीवादी समाज और व्यवस्था की नंगई को उघाड़कर रख देती है। इस समाज में शिक्षा, कौशल और योग्यता, सबकुछ बिकाऊ है। ऐसे में जाहिर है कि अपवादों को छोड़ दिया जाय तो अमीरों के बच्चे अधिक सक्षम बनेंगे और ग़रीबों के बच्चे अक्षम। लेकिन अपने ही बनाए नियमों और क़ानूनों के उल्लंघन में भारतीय पूँजीवादी व्यवस्था माहिर हो चुकी है। 62 साल का गहरा अनुभव है उसके पास कि किस तरह सारी सामाजिक समानता और न्याय को संविधान और क़ानून की किताबों के पन्नों तक सीमित कर दिया जाय और वास्तव में चलाई जाय एक ऐसी व्यवस्था जिसमें उत्पादन के साधनों, सारी भौतिक सम्पदा समेत सारी मानसिक और बौद्धिक सम्पदा पर भी अमीरजादों की औलादों की बपौती हो। यही इस पूँजीवादी जनतंत्र की हकीकत है। गलती से इसी बात को कपिल सिब्बल बोल भी गये जो राजनीतिक पैदाइश के समय से ही पूँजीवादी घरानों और कारपोरेटों की गोद में बैठे हुए हैं। कपिल सिब्बल ने मानव संसाधन मन्त्री बनने के बाद कहा, 'शिक्षा एक माल है और मैं तो यहां इसलिए हूँ कि इसे और अधिक कंज्यूमर फ्रेण्डली बना सकूँ।' बताने की ज़रूरत नहीं है कि इस व्यवस्था की निगाह में कंज्यूमर कौन है। यह अकारण नहीं है कि नयी आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से ही कारों, फ्रिजों, मोबाइलों, मोटरसाईकिलों, कम्प्यूटरों आदि की कीमत में गिरावट आ रही है जबकि आटा, तेल, नून, दाल, चावल, चीनी आदि की कीमतों में बढ़ोत्तरी। ग़रीबों की ज़रूरत का हर सामान महँगा हो रहा है जबकि अमीरों के ऐशो-आराम का हर सामान सस्ता। यह है वह कंज्यूमर सॉवरैनिटी (उपभोक्ता की सम्प्रभुता) जिसका गुण सारे ऐसे अर्थशास्त्री गाते हैं जो पूँजीपतियों के फेंके हुए टुकड़ों पर पलते हैं! ग़रीब सम्प्रभु तो क्या व्यवहार में पूर्ण नागरिक भी नहीं बन पाते। यही कारण है कि उनके स्कूलों को कस्बों-गलियों में सड़ने के लिए छोड़ दिया जाता है और अमीरों के स्कूलों को सरकार हर प्रकार की फण्डिंग और सुविधाएँ प्रदान करती है।

सरकार ने ग़रीब बच्चों के लिए एक सर्व शिक्षा अभियान भी शुरू किया था। उसके लिए जारी होने वाला करोड़ों रुपये का फण्ड भ्रष्टाचार का निवाला बन जाता है। जो नीचे तक पहुच पाता है उसका भी ढंग से इस्तेमाल नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त, इस योजना के लिए दिया जाने वाला फंड पिछले तीन वित्तीय वर्षों से लगातार घटाया जा रहा है। वर्ष 2007-08 में 12,020 करोड़ रुपये इस अभियान के लिए आए। 2008-09 में यह आँकड़ा 11,940 करोड़ रुपये रह गया और मौजूदा वित्तीय वर्ष में इसके लिए सरकार ने महज 11,934 करोड़ रुपये दिये हैं। साफ़ है कि स्कूली

शिक्षा को उच्च शिक्षा पर प्राथमिकता देने का ढिंढोरा पीटते हुए सरकार उच्च शिक्षा में से तेज़ी से विनिवेश कर रही है और विनिवेश किये पैसे को भी स्कूली शिक्षा में नहीं लगा रही है।

स्कूली शिक्षा में चल रहे इस कल्याणकारी पाखण्ड की असलियत जानने के बाद आइये यशपाल समिति के सुझावों और उच्च शिक्षा बिल 2009 का भी पोस्टमॉर्टम कर लें।

प्रो. यशपाल भारत के अग्रणी वैज्ञानिक और शिक्षाविद हैं। वे अपने मानवतावादी, तर्कसंगत और जनवादी रुझानों के लिए जाने जाते हैं। उनके नेतृत्व में सरकार ने उच्च शिक्षा की स्थिति की समीक्षा के लिए एक समिति का गठन किया। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट हाल ही में सरकार को सौंप दी। सरकार ने इस रिपोर्ट के उन सुझावों को स्वीकार कर लिया जो उसके उदारीकरण और निजीकरण के कार्यक्रम से मेल खाते हैं। यशपाल समिति का कई तथाकथित वामपंथी संगठन बिना जाने-समझे विरोध कर रहे हैं मानो कि प्रो. यशपाल कपिल सिब्बल के खासम-खास हों। यह नज़रिया गलत है। यशपाल समिति ने कई सुझाव दिये हैं जिनका कि स्वागत किया जाना चाहिए। जैसे इस समिति का कहना है कि डीम्ड विश्वविद्यालय के नाम पर उच्च शिक्षा में निजी व्यवसाय की जो चार सौ बीसी चल रही है उसे बन्द कर दिया जाना चाहिए और ऐसे सभी विश्वविद्यालयों की मान्यता को रद्द कर दिया जाना चाहिए। समिति अपनी रिपोर्ट में इस स्थिति की निन्दा करती है कि जिसे मन करता है वह धन्धा चलाने के लिए एक विश्वविद्यालय खोलकर बैठ जाता है, मानो वह कोई पंसारी की दुकान हो। इस सुझाव के आने के बाद सरकार ने कई ऐसे विश्वविद्यालयों की मान्यता को रद्द किया भी, क्योंकि उसे भी खेल के नियमों का इतना पालन तो करना ही है कि जनता का खेल से विश्वास ही न उठ जाए। दूसरी बात यह कि इन तथाकथित विश्वविद्यालयों के भ्रष्टाचार और उनके द्वारा छात्रें का पैसा लेकर भागने जैसी घटनाओं के खिलाफ आम रोष भी काफी था। इसलिए भी सरकार ने इस बाबत क़दम उठाया।

लेकिन यशपाल समिति ने सरकारी संस्थाओं की अक्षमता और असफलता का इलाज बताते हुए बात को दूसरे छोर पर ही पहुँचा दिया। यशपाल समिति के अनुसार पारंपरिक शिक्षा के लिए यू.जी.सी. और तकनीकी शिक्षा के लिए ऐक्टे की प्रासंगिकता खत्म हो गई है। दूसरी बात यह कि सरकार के मन्त्रलयों के अन्तर्गत रहने के कारण ये संस्थाएँ राजनीति का शिकार हो जाती हैं जिसका प्रभाव उच्च शिक्षा पर पड़ता है। इसके इलाज के तौर पर सही राजनीति को स्थापित करने और उस पर आम जनता के सच्चे प्रतिनिधियों की निगरानी की किसी व्यवस्था को लागू करने की बजाय यशपाल समिति विराजनीतिकरण की राजनीति का अनजाने ही सहारा लेती है। वह कहती है कि यू.जी.सी. और ऐक्टे को भंग करके पूरी उच्च शिक्षा के विनियमन और नियंत्रण लिए एक स्वायत्त संस्था का गठन किया जाय जो सरकार के किसी भी मन्त्रलय के अधीन न हो। इसके सात सदस्य हों जिनमें से कुछ भारतीय उद्योग जगत के जाने-माने लोग हों, क्योंकि वे ही गुणवत्ता को निर्धारित कर सकते हैं। यही संस्था उच्च शिक्षण संस्थानों के वित्त पोषण से लेकर पाठ्यक्रम निर्धारण तक का काम करे और कोई भी अन्य सरकार या गैर-सरकारी संस्था इसमें कोई हस्तक्षेप न कर सके। साफ़ है कि अगर ऐसी कोई संस्था अस्तित्व में आती है तो वह पूरी उच्च शिक्षा को कारपोरेट हितों के अनुसार ढालने का काम करेगी। यह एक गैर-जनवादी क़दम होगा क्योंकि ऐसी संस्था की किसी भी जनप्रातिनिधिक निकाय के समक्ष कोई जवाबदेही नहीं होगी। ऐसी कोई संस्था अगर कारपोरेट घरानों के हाथ बिक जाती है तो कोई कुछ नहीं कर सकेगा। जब तक कोई नया अधिनियम पास होकर इस प्रक्रिया को रोकेगा तब तक यह संस्था उच्च शिक्षा संस्थानों में कई पीढ़ियों को पूँजीपति घरानों का "बोलने वाला उपकरण" बना चुकी होगी! इसलिए प्रो.यशपाल की समझदारी यहां ढीली पड़ जाती है। इरादतन या गैर-इरादतन, यह बहस का मुद्दा ही नहीं है। एक अराजनीतिक वैज्ञानिक से हम और कोई उम्मीद नहीं कर सकते जो 'परफेक्ट बुर्जुआ राज्य' में यकीन करता है। अराजनीतिक बुद्धिजीवी अक्सर अनजाने में प्रबुद्ध निरंकुशता के पक्ष में खड़े हो जाते हैं।

इसके अलावा यशपाल समिति की रिपोर्ट में कहा गया है कि भारत में विदेशी विश्वविद्यालयों की आवश्यकता नहीं है लेकिन विदेशों से अच्छे शिक्षकों की आवश्यकता है। यह अपने आप में मजाकिया बात है। जिस देश में पढ़ाने की योग्यता रखने वाले शिक्षक शोध की डिग्रियाँ लेकर बेरोज़गार घूम रहे हों, वहाँ विदेशों से शिक्षकों का आयात करने का क्या मतलब है? यह एक दीगर बात है कि इसी देश की शिक्षा व्यवस्था के तहत शिक्षित-प्रशिक्षित शिक्षक वही शिक्षा आने वाली पीढ़ियों को भी देगा जो उसे मिली है। लेकिन विदेशी शिक्षकों की गुणवत्ता भी कोई प्रश्नों के दायरे से बाहर नहीं है। यह यशपाल समिति के अपने औपनिवेशिक मानसिकता से पैदा होने वाले पूर्वाग्रह हैं कि वह देशी शिक्षकों को हीन मानती है और विदेशी शिक्षकों को श्रेष्ठ। यशपाल समिति की ये दो सिफारिशें हैं जो दिक्कततलब हैं और जिनका विरोध किया जाना चाहिए।

यशपाल समिति के आने के बाद कपिल सिब्बल के निर्देशन में एक उच्च शिक्षा बिल 2009 पेश किया गया। यह बिल शिक्षा को बाज़ारू माल बनाने के कार्य को कुशलता से आगे बढ़ाने की बात करता है। इस बिल के मुताबिक उच्च शिक्षा के क्षेत्र में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की इजाज़त दे दी जाएगी। यानी विदेशी विश्वविद्यालय अपने कैम्पस भारत में खोल सकेंगे। ज़ाहिर है कि इस शिक्षा की कीमत देश के मुट्ठी भर धनाढ्य ही चुका पायेंगे और कैम्पसों का और अधिक कुलीनीकरण होगा। देशी विश्वविद्यालय भी इन विश्वविद्यालयों से प्रतिस्पर्द्धा में आम घरों के बेटे-बेटियों की पहुँच से और अधिक

(पेज 27 पर जारी)

सामयिकी

भूख का पसरता बाज़ार

डा. ए.के. अरुण

दुनिया में भूख से पीड़ित लोगों की संख्या में फिर वृद्धि होनी शुरू हो गई है। ग़रीब देशों में लाखों लोग समुचित खाद्यान्न खरीद पाने की स्थिति में नहीं हैं। इन लोगों को अब खाद्यान्न उपलब्ध कराने वाली स्वयंसेवी संस्थाओं से भी अतिरिक्त मदद की उम्मीद नहीं है क्योंकि ये अन्तरराष्ट्रीय खाद्य संस्थाएँ भी स्वयं संकट में हैं। विश्व खाद्य कार्यक्रम (डब्ल्यू.एफ.पी.) के निदेशक जोसेटी शीरान की मानें तो डब्ल्यू.एफ.पी. को वर्ष 2008-09 में 300 मिलियन डॉलर की अतिरिक्त आवश्यकता है जिसकी पूर्ति के लिए अभी कोई उम्मीद नहीं है। उल्लेखनीय है कि वर्ष 2007 के बाद से खाद्य मूल्यों में 40 से 55 प्रतिशत की वृद्धि हुई है और भूख से पीड़ित लोगों की संख्या भी बढ़ी है। संयुक्त राष्ट्र के खाद्य एवं कृषि संगठन (एफ.ए.ओ.) के अनुसार इन दिनों दुनिया के 37 देश अन्तरराष्ट्रीय खाद्य सहायता पर निर्भर है।

अभी हाल ही में एफ.ए.ओ. के महानिदेशक जैक्स डायफ़ ने अपनी भारत यात्रा के दौरान केन्द्रीय कृषि एवं खाद्य मन्त्री शरद पवार से मुलाक़ात कर विश्व खाद्य समस्या पर चर्चा की तथा आशंका व्यक्त की कि खाद्यान्न उत्पादन में आ रही कमी एवं बढ़ते मूल्य से खाद्य संकट और गहरायेगा तथा कई देशों में भोजन के लिए संघर्ष और हिंसक हो सकते हैं। श्री डायफ के अनुसार इस वक़्त दुनिया में अनाज का भण्डार इतना कम है कि यह पूरी दुनिया की आबादी का केवल 8 से 12 हफ़्ते तक ही पेट भर सकता है। उन्होंने यह भी कहा कि कैमरून, मिस्र, हैती, बुर्कीना फ़ासो तथा सेनेगल जैसे देशों में जारी खाद्य संघर्ष दुनिया के अन्य देशों में भी फैल सकते हैं।

एफ.ए.ओ. की मुख्य चिन्ता यह है कि खाद्य पदार्थों के भण्डारण में आई विश्वव्यापी कमी को कैसे पूरा किया जाए? इसमें सन्देह नहीं कि मुख्य कृषि उपज जैसे गेहूँ, चावल, मक्का आदि की खपत में पिछले कुछ वर्षों से बढ़ोत्तरी हुई है। कई देशों ने हालाँकि अपने यहाँ राशनिंग की व्यवस्था की है, लेकिन खपत में वृद्धि जारी है। अनाजों की खपत में वृद्धि का मुख्य कारण न तो आबादी की वृद्धि है और न ही लोगों के द्वारा भोजन में वृद्धि। बल्कि इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि विकसित देश ऊर्जा प्राप्ति के लिए खाद्यान्नों का अन्ध उपयोग कर रहे हैं। अमरीका और यूरोप में अब खाद्यान्नों से बायोईंधन बनाए जा रहे हैं। वहाँ मक्का, गन्ना, रेपसीड जैसी फसलें खाद्य ज़रूरतों की बजाय अखाद्य उपयोग के लिए उपजाई जा रही हैं। ब्राजील में तो यह प्रक्रिया विगत एक दशक से जारी है। धीरे-धीरे बायोडीज़ल का यह अभियान अफ़्रीका, एशिया में भी फैल रहा है। अन्तरराष्ट्रीय खाद्यान्न समिति (आई.जी.सी.) का अनुमान है कि वर्ष 2007 में 100 मीट्रिक टन खाद्यान्न का उपयोग बायोईंधन बनाने के लिए हुआ।

बढ़ते खाद्य संकट के लिए खाद्य मूल्यों में हुई बेतहाशा वृद्धि को भी मुख्य कारण बताया जा रहा है। खाद्य मूल्यों में हुई वृद्धि के लिए खाद्य विशेषज्ञ अन्तरराष्ट्रीय बाज़ारों में मांस की माँग में वृद्धि को एक बड़ा कारण मान रहे हैं। कहा जा रहा है कि विगत दो दशक में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर मांस की माँग दो गुनी हो गई है। जाहिर है कि इसी अनुपात में चारा उत्पादन का दायरा भी बढ़ा है। एक आकलन के अनुसार एक किलो गोमांस के लिए 7 किलो खाद्यान्न की आवश्यकता होती है जबकि एक किलो सुअर के मांस के लिए 3 किलो चारा चाहिये। इन माँगों की पूर्ति के लिए बड़े मात्रा में सोयाबीन व अन्य फसलों का उत्पादन किया जा रहा है। अनाज की जगह चारे के उत्पादन का परिणाम है कि आस्ट्रेलिया जैसे देश में खाद्यान्न की कमी होने लगी है। इधर चीन भी अब खाद्य आयात करने लगा है। आस्ट्रेलिया में तो अकाल ने स्थिति और भयावह बना दी है। मौसम में आये प्रतिकूल प्रभावों से भी खाद्य संकट बढ़ा है। अफ़्रीका आदि में इसका गहरा असर देखा जा सकता है।

भारत सरकार का आर्थिक सर्वेक्षण 2007-08 कहता है कि 1990 से वर्ष 2007 तक खाद्यान्न उत्पादन वृद्धि दर 1.2 प्रतिशत ही रही है। इस दौरान जनसंख्या की औसत 1.9 प्रतिशत वृद्धि दर की तुलना में खाद्यान्न उत्पादन की दर कम ही है। इस दौरान उत्पादन कम होने से प्रति व्यक्ति अनाज तथा दालों की उपलब्धता भी घटी है। अनाजों की खपत वर्ष 1990-91 में जहाँ प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 468 ग्राम थी वहीं वर्ष 2005-06 में घटकर यह प्रतिदिन 412 ग्राम प्रति व्यक्ति रह गई है। इस दौरान दालों की खपत प्रतिदिन 42 ग्राम प्रति व्यक्ति से घटकर 33 ग्राम रह गई। यहाँ ध्यान देने की बात है कि 1956-57 में प्रति व्यक्ति दालों की उपलब्धता 72 ग्राम थी।

इन आँकड़ों और तथ्यों से साफ़ है कि खाद्यान्न की उपलब्धता में कमी आ रही है। इसका असर लोगों के स्वास्थ्य पर भी देखा जा सकता है। वर्ष 2005-06 के राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण के अनुसार भारत में 5 वर्ष से कम उम्र के बच्चों में बड़े पैमाने पर शारीरिक कमजोरी देखी गई है। इस उम्र के 43 फीसदी बच्चे का शारीरिक वज़न उम्र के लिहाज

से काफ़ी कम है। पर्याप्त पोषण के अभाव में अनेक रोगों से ग्रस्त बच्चों की तादाद भी बढ़ रही है। गर्भवती और दूध पिलाने वाली माताओं के शरीर में कैल्शियम और लोहा तथा अन्य लवण व पोषक तत्त्वों की कमी भी स्थिति की भयावहता की ओर इशारा करते हैं। 15 से 45 वर्ष के बीच की महिलाओं का बॉडी मास इन्डेक्स (बी.एम.आई.) 18.5 से भी कम है। यह बेहद गम्भीर है। इनमें से 16 प्रतिशत महिलाएँ तो बेहद ही कमज़ोर हैं। 15 से 45 वर्ष की उम्र के 34 फीसद फरुषों में भी कुपोषण बहुत ज़्यादा है। इनका बी.एम.आई. भी 18.5 से कम है। वास्तव में नक़दी फसलों से आर्थिक सम्पन्नता भले ही बढ़ रही हो लेकिन आम लोगों के स्वास्थ्य पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है।

1983-85 में अनाज उत्पादन की जो स्थिति थी उसमें अखाद्य फसलों की हिस्सेदारी लगभग 37 प्रतिशत थी जो वर्ष 2006-07 में बढ़कर 46.7 प्रतिशत तक पहुँच गई। आँकड़ों के अनुसार खाद्य फसलों के उत्पादन में जहाँ 2 प्रतिशत की वृद्धि हुई है वहीं अखाद्य फसलों का उत्पादन 4 प्रतिशत तक बढ़ गया है। विश्व बैंक की ही रिपोर्ट मानती है कि महँगी क़ीमत वाली फसलों की माँग बढ़ी है जबकि भोजन के लिए ज़रूरी फसलों का उत्पादन घटा है। सरकार भी खाद्य फसलों की तुलना में अखाद्य फसलों का उत्पादन बढ़ाने के लिए ज़्यादा प्रोत्साहित करती है। उदाहरण के लिए वर्ष 2004-05 में फूलों का जो निर्यात 221 करोड़ रुपये था वह 2006-07 में बढ़कर 650 करोड़ हो गया। इसमें 194 फीसद वृद्धि दर्ज की गई। ऐसे ही फल सब्ज़ी का निर्यात 1363 करोड़ रुपये से बढ़कर 2411 करोड़ तक पहुँच गया है। यह वृद्धि से 75 फीसद से ज़्यादा है।

यह विडम्बना ही है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के विश्व खाद्य शताब्दी सम्मेलन 2000 में विभिन्न सदस्य देशों की सरकारों द्वारा भूख घटाने के वायदे के बावजूद भी इस दिशा में कोई प्रगति नहीं दिखती। संयुक्त राष्ट्र संघ के भोजन के अधिकार सम्बन्धी विशेष दूत जीन जिगलर कहते हैं, "प्रतिवर्ष 60 लाख से ज़्यादा बच्चे 5 वर्ष से कम की उम्र में ही भूख या भूख से सम्बन्धित बीमारियों की वजह से असमय मौत का शिकार हो जाते हैं।"

वर्तमान दौर के विकास माडल में भूख और अकाल अपरिहार्य नहीं है। खाद्य अनाज के उत्पादन से लोग और कम्पनियाँ मुँह मोड़कर अखाद्य फसलों का उत्पादन करने लगें तो स्थिति का अन्दाजा लगाया जा सकता है। जैविक ईंधन बनाने की होड़ में कई देशों में किसान अपने अनाज का अखाद्य इस्तेमाल कर रहे हैं। एक अनुमान के अनुसार 50 लीटर जैविक ईंधन हेतु 200 किलोग्राम मक्का की ज़रूरत पड़ती है। ज्ञातव्य है कि इतने ही अनाज में एक व्यक्ति एक वर्ष तक अपना पेट भर सकता है।

भूख को बाज़ार ने मुनाफ़े के धन्धे के रूप में परिवर्तित कर लिया है। अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ स्वास्थ्य व पोषण की कमी का वास्ता देकर ऐसी नीतियाँ और कार्यक्रम थोप रही हैं जिससे खाद्य उद्योग में लगी बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को सीधे फायदा पहुँच रहा है। अब भारत सहित दुनिया भर में नागरिकों के स्वास्थ्य और पोषण सम्बन्धी अधिकारों को सुनिश्चित करने के लिए सार्वजनिक निजी भागीदारी (पी.पी.पी.) को इस तरह से पेश किया जा रहा है मानो देश में लोगों का स्वास्थ्य इसी बुनियाद पर खड़ा किया जा सकता है अन्यथा भारत बीमारियों व कुपोषण के दलदल में धँस जाएगा।

वर्ष 2005 में विश्व स्वास्थ्य सभा (डब्ल्यू.एच.ए.) में स्तनपान के सवाल पर हुई बहस के दौरान भारत ने अपना पक्ष रखते हुए कहा था, "व्यावसायिक संगठनों की मुख्य प्राथमिकता लाभ कमाना है। इसलिए व्यावसायिक संगठनों से ऐसी अपेक्षा रखना न तो उचित है और न ही व्यावहारिक कि वे स्तनपान को संरक्षण, प्रोत्साहन और समर्थन देने के लिए सरकारों व अन्य समूहों के साथ मिलकर काम करेंगे।" तब डब्ल्यू.एच.ए. ने प्रस्ताव क्रमांक 58.32 को स्वीकार करते हुए सदस्य समूहों से आग्रह किया था कि वे यह सुनिश्चित करें कि शिशुओं व छोटे बच्चों के स्वास्थ्य के लिए कार्यक्रमों व कार्यकर्त्ताओं के लिए वित्तीय समर्थन व अन्य प्रोत्साहन में किसी प्रकार से हितों के बीच टकराव न हो। मई 1981 में भी 34वीं विश्व स्वास्थ्य सभा में स्तनपान के विकल्पों के विपणन सम्बन्धी अन्तरराष्ट्रीय कोड को स्वीकारते हुए माना गया था कि लाभोन्मुखी व्यावसायिक संस्थान समतामूलक विकास के पैरोकार नहीं बन सकते। इन दिशा निर्देशों में नागरिक समाज और यूनिसेफ एवं डब्ल्यू.एच.ओ. जैसे अन्तरराष्ट्रीय संगठनों से उम्मीद की गई थी कि वह महज़ लाभ के लिए सक्रिय उद्योगों से अच्छी तरह निपटेंगे लेकिन ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। उल्टे कथित पोषण एवं विटामिनों का धन्धा करने वाली कम्पनियों की तो चाँदी हो गई और भ्रामक विज्ञापनों का सहारा लेकर नेस्ले, हिन्दुस्तान लिवर और ऐसी ही अन्य बेबी फूड बनाने वाली कम्पनियों ने ख़ूब मुनाफ़ा कमाया। उस दौर में इन कम्पनियों के विज्ञापनों का यह असर था कि शहरों में रहने वाली मध्यमवर्गीय युवा माताओं ने अपने नवजात शिशु को भी अपने स्तन का दूध पिलाने की बजाय इन कम्पनियों का डिब्बाबन्द दूध देना स्वीकार कर लिया था।

अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर नेस्ले जैसी कम्पनियों का रुतबा देखिये। सन् 1974 में थर्ड वर्ल्ड एक्शन ग्रुप नामक एक ज़न संगठन ने एक पर्चा प्रकाशित किया था। शीर्षक था – "शिशुओं का हत्यारा – नेस्ले।" इस पर्चे के ख़िलाफ़ नेस्ले ने मुक़दमा कर दिया और सन् 1976 में अदालत का फ़ैसला नेस्ले के पक्ष में आया। अदालत ने "आपराधिक क़ानून के तहत" नेस्ले को शिशुओं की मौत के लिए ज़िम्मेदार नहीं" पाया। उल्टे अदालत ने थर्ड वर्ल्ड एक्शन ग्रुप पर 300 स्विस फ्रैंक का जुर्माना लगाया और आगाह किया कि ग्रुप अपने पर्चों की भाषा में संयम बरते।

कथित पोषण और हेल्थ फूड के धन्धे में लगी कम्पनियों की तो अब

चल निकली है। भूमण्डलीकरण के दौर में इन कम्पनियों ने बड़े पैमाने पर स्वास्थ्य और भूख का वास्ता देकर अपने उल्टे-सीधे उत्पादों को महँगी दर पर बाज़ार में भर दिया है। यूनिसेफ तथा डब्ल्यू. एच.ओ. जैसे संगठनों ने भी अपने 27 वर्ष पूर्व के 34वें विश्व स्वास्थ्य सभा के घोषणा पत्र को उठाकर किनारे कर दिया है। जिसमें कहा गया था कि, ''लाभ के लिए सक्रिय कम्पनियाँ व्यापक जनहित की पोषक नहीं हो सकती।'' अब यूनिसेफ ने ''ग्लोबल एलायंस फॉर इम्प्रूव्ड न्यूट्रीशन'' (गेन) से हाथ मिलाया है। गेन एक ऐसा संगठन है जो अन्तरराष्ट्रीय खाद्य व्यापार कम्पनियों के हित, पोषण और संरक्षण के लिए काम करता है। अब आशंका है कि इससे विभिन्न देशों की पोषण और खाद्य नीतियों में बाज़ार और बहुराष्ट्रीय खाद्य कम्पनियों का दख़ल बढ़ जाएगा।

गेन ने विभिन्न बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के खाद्य उत्पादों को विभिन्न देशों के राष्ट्रीय खाद्य, स्वास्थ्य एवं पोषण नीतियों में शामिल करने के लिए सरकारों से लाबिंग भी शुरू कर दी है। यह जानना ज़रूरी है कि अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ यूनिसेफ तथा डब्ल्यू.एच.ओ. के प्रतिनिधि अब 'गेन' की बैठक में उन्हीं बहुराष्ट्रीय खाद्य निर्माता कम्पनियों के प्रतिनिधियों के साथ बैठते हैं जिन्होंने कई देशों में अन्तरराष्ट्रीय दिशा निर्देशों का उल्लंघन किया है। 'गेन' के बोर्ड सदस्यों में बायर, कोकाकोला, नेस्ले, नोवार्टिस, पेप्सीको, फाइजर, प्राक्टर एण्ड गैम्बल जैसी अनेक खाद्य, रसायन एवं दवा कम्पनियों के प्रतिनिधि शामिल हैं। इसी गेन ने अभी 'हैज फूड्स' के साथ मिलकर 'स्प्रिंकल्स' नामक उत्पाद के समर्थन और विकास के लिए काफ़ी पैसा दिया है, जो 6 माह के बच्चों के शरीर में लोहा की कमी से होने वाले एनिमिया के उपचार में प्रयुक्त होता है।

यहाँ यह जानना ज़रूरी है कि 'गेन' की स्थापना दुनियाभर में बच्चों के स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर की गई है। सन् 2002 में संयुक्त राष्ट्र संघ की एक विशेष बैठक में इसकी स्थापना की गई। इसका मक़सद उन बच्चों के लिए विशेष पोषण युक्त खाद्य (फ़ोर्टीफ़ाइड फूड्स) को प्रचलित करना था जिन्हें पर्याप्त भोजन और पोषण नहीं मिल पाता है। इसके लिए निजी क्षेत्र के साथ भागीदारी करने की बात कही गई थी। इसके उद्देश्यों में यह भी शामिल है कि बिल एण्ड मेलिंडा गेट्स फ़ाउंडेशन तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की अन्य एजेंसियों की अगुवाई में गेन इस बात की लॉबिंग करने का प्रयास करेगा कि लक्षित देशों में खाद्य कम्पनियों के लिए अनुकूल शुल्क दरें लागू हों। इस लॉबिंग में अमेरिका, जापान, जर्मनी, कनाडा जैसे देशों की सरकारों ने गेन का साथ देने का वायदा किया है। इसका उद्देश्य साफ़ है कि दुनिया में फोर्टिफाइड फूड्स की बड़े पैमाने पर माँग बढ़े। गेन अब डी. एस.एम. न्यूट्रीशनल प्रोडक्ट्स, कारगिल, एक्जो, प्राक्टर एण्ड गैम्बल के साथ मिलकर 'गेन प्रीमियम फन्ड' स्थापित करने की दिशा में भी काम कर रहा है। यह 'फन्ड' एन.जी.ओ. व सरकारों के माध्यम से ऐसे उत्पादन के प्रचार व विज्ञापन को बढ़ाने में भी मदद देगा। इस योजना पर सितम्बर 2007 में सहमति बन चुकी है।

सवाल है कि 'गेन' जैसे प्रयास भारत व भारत जैसे पिछड़ों मुल्कों की पोषण व्यवस्था को ध्वस्त कर देंगे। भारत में 1992 से टिकाऊ एवं आत्मनिर्भर पोषण सुरक्षा सुनिश्चित करने के लिए एक अधिनियम बना हुआ है। अब 'गेन' के सक्रिय होने से भारत की पोषण सुरक्षा नीति बुरी तरह प्रभावित होगी। मौजूदा भारतीय पोषण सुरक्षा क़ानून (1992) में निम्नलिखित मुख्य प्रावधान हैं :-

1) दो साल से कम उम्र के बच्चों के लिए निर्मित शिशु आहार और दूध की बोतलों के प्रचार-प्रसार पर प्रतिबन्ध।
2) प्रिंट मीडिया, इलेक्ट्रानिक मीडिया व अन्य किसी भी प्रचार माध्यम में इन चीज़ों का विज्ञापन नहीं होगा।
3) कोई भी कम्पनी किसी भी गर्भवती या दूध पिलाने वाली महिला को उपहार या ऐसे उत्पाद का मुफ़्त नमूना नहीं दे सकती।
4) विज्ञापनों में माताओं, शिशुओं की तस्वीर कार्टून या अन्य सम्बन्धित ग्राफ़िक्स का इस्तेमाल नहीं किया जा सकता।
(5) दवा व पोषण का कारोबार करने वाली कम्पनियाँ स्वास्थ्य कार्यकर्त्ताओं को किसी प्रकार का भुगतान नहीं कर सकती या बैठकों, सम्मेलनों, सेमिनार आदि को प्रायोजित नहीं कर सकती।

अब गेन के सक्रिय होने से भारत सहित अन्य देशों में खाद्य एवं पोषण सुरक्षा पर सवाल खड़े हो गए हैं। भारत में राष्ट्रीय पोषण नीति को ठीक से लागू करने के लिए डॉ. एम. एस. स्वामीनाथन की अध्यक्षता में एक संगठन बनाया गया है – "कोलीशन फॉर सस्टेनेबल न्यूट्रीशन सिक्युरिटी इन इन्डिया"। गेन भारत में इस कोलीशन के साथ भी काम कर रहा है। अब सवाल है कि भारत में खाद्य एवं पोषण सुरक्षा की शर्त पर गेन के एजेण्डा को कैसे चलने दिया जा सकता है। इससे टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई है और ख़बर है कि अन्तरराष्ट्रीय स्वास्थ्य एवं पोषण संगठनों यूनिसेफ, डब्ल्यू.एच.ओ. आदि के प्रतिनिधि खाद्य एवं पोषण की बड़ी कम्पनियों के आगे बौने नज़र आ रहे हैं।

भोजन एवं पोषण के व्यापार से जुड़ी बड़ी कम्पनियों का दबाव है कि राष्ट्रीय पोषण कार्यक्रम में फ़ोर्टीफ़ाइड आहार शामिल किया जाए। मई 2008 में चिकित्सा की चर्चित पत्रिका 'लैन्सेट' ने जच्चा-बच्चा कुपोषण पर एक श्रृंखला प्रकाशित की थी। इसमें सूक्ष्म पोषक तत्त्वों पर जोर था और सिफ़ारिश की गई थी कि राष्ट्रीय पोषण कार्यक्रम में फोर्टीफाइड आहार को शामिल किया जाए। हालाँकि कई वैज्ञानिक इस 'फोर्टीफिकेशन' को गैर ज़रूरी और विशुद्ध व्यापारिक बताते हैं। शिशु रोग विशेषज्ञों की पत्रिका इन्डियन पीडियाट्रिक्स के सम्पादक डा. पीयूश गुप्ता सवाल उठाते हैं कि ''क्या सभी

बच्चों के लिए विटामिन 'ए' युक्त पूरक आहार ज़रूरी है?'' ध्यान देने की ज़रूरत है कि कुछ वर्ष पूर्व ऐसे ही नमक में आयोडीन की अनिवार्यता की वकालत की गई थी। नमक में आयोडिन की अनिवार्यता के लिए कम्पनियों ने पूरा दबाव बनाया और सरकार को इस दबाव में क़ानून भी बदलना पड़ा। उल्लेखनीय है कि सरकारी क़ानूनों की आड़ में आयोडिन युक्त नमक की अनिवार्यता आम नागरिकों पर थोप कर इस देश में कई बीमारियों के लिए रास्ता खोल दिया गया है।

नमक में आयोडिन की अनिवार्यता को थोपने के मामले की पड़ताल करने से इस आशंका की पुष्टि हो जाती है कि देर सबेर चावल में विटामिन ए अथवा आटे में ल्योहा तथा अन्य सूक्ष्म पोषक तत्त्वों को दैनिक उपयोग के अनाजों में मिलाकर फोर्टीफाइड फूड के रूप में बाज़ार में उतारा जा सकता है। केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय के विश्वस्त सूत्रों के हवाले से इस लेखक को खबर है कि मन्त्रालय में आयोडाइज्ड नमक को डबल फ़ोर्टीफ़ाइड (उसमें लोहा मिलाने) की एक महत्वाकांक्षी योजना लम्बित है जिसमें सम्बन्धित कम्पनी ने सर्वेक्षण के आधार पर यह भी दावा किया है कि लोगों को यदि ठीक से शिक्षित किया जाए तो लोग मौजूदा दर से दो गुनी क़ीमत पर भी 'डबल फ़ोर्टीफ़ाइड नमक' लेने को तैयार हैं।

चिन्ता की बात तो यह है कि कम्पनियों और बाज़ार के गठजोड़ ने हमारी प्राकृतिक खाद्य व्यवस्था को खत्म कर देने की योजना बना ली है और हम उसके जाल में फँस चुके हैं। कई पोषक तत्त्व तो खाद्य में कृत्रिम रूप से डाले ही नहीं जा सकते। जैसे-जिंक। हमारे शरीर में जिंक की कमी को प्राकृतिक खाद्य पदार्थों के सेवन से ही पूरा किया जा सकता है। इसके लिए जैविक खेती को बढ़ावा देने की ज़रूरत है। क्योंकि रासायनिक कीटनाशकों के उपयोग से ज़मीन में उपलब्ध सूक्ष्म पोषक तत्त्व नष्ट हो जाते हैं और हमारे शरीर को प्राकृतिक रूप से पर्याप्त पोषण नहीं मिल पाता। यह विडम्बना ही है कि पहले पोषण के प्राकृतिक तरीक़े को हम नष्ट कर दें और फिर पोषण के लिए बाज़ार की तथाकथित तकनीक पर निर्भर हो जायें।

भारत में तेज़ी से विकसित होते खाद्य बाज़ार और इसके पीछे लगी बड़ी कम्पनियों की सफलता अभी से देखी जा सकती है। आम जनता के स्तर पर ऐसी योजना में जानकारी के अभाव में लोगों को कोई साज़िश नज़र नहीं आती। कम्पनियाँ भी मध्यम वर्ग के लोगों को प्रभावित करना अच्छी तरह जानती हैं। इस कार्य में क्रिकेट स्टार धोनी, हरभजन, युवराज या सिने स्टार आमिर, शाहरुख या सलमान या कोई और सेलेब्रिटी अच्छी तरह इस्तेमाल होते हैं। नमक में आयोडीन की अनिवार्यता को सरकारी क़ानूनों ने जितना प्रभावी नहीं बनाया उतना विज्ञापन और प्रचार ने। वैसे भी गेन जैसी संस्था की स्थापना बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का बाज़ार निर्माण करने के लिए ही की गई है। गेन इन कम्पनियों के बाज़ार बढ़ाने के लिए विभिन्न देशों में खाद्य और पोषण क़ानूनों को अपने अनुकूल बनवाने के लिए भी प्रयासरत है। भारतीय सांसदों के बीच गेन ने एक बैठक आयोजित कर उन्हें फोर्टीफाइड फूड के फायदे बताए। इसका असर भी रंग लाने लगा है। सांसद सचिन पायलट विटामिन ए युक्त कृत्रिम पोषक आहार के प्रबल समर्थक बन गए हैं। पिछले संसद सत्र में वे इसकी ज़ोरदार वक़ालत भी कर चुके हैं।

गेन कुपोषण की समस्या का समाधन बाज़ार में तलाशता है। गेन का उद्देश्य भारत में पोषक आहार के लिए एक अरब लोगों का बाज़ार निर्मित करना है। गेन ने अभी-अभी हैदराबाद में ही ब्रिटानिया नामक कम्पनी को एक लाख बच्चों तक अपना कथित पोषक उत्पाद पहुँचाने का मौक़ा उपलब्ध कराया है। इस प्रकार कुपोषण के इस बाज़ार में बड़ी कम्पनियों को बड़े बाज़ार बनाने के व्यापक अवसर उपलब्ध हो रहे हैं। इस झटपट समाधान की आपाधापी में भूख और कुपोषण के मूल सवाल दब गये हैं। इन सवालों का फ़ास्ट-फूड स्टाइल वाला जवाब स्थाई समाधान दे नहीं सकता क्योंकि भूख महज़ एक समस्या नहीं साम्राज्यवाद की मुक़म्मल नीति है। जब तक नीति पर चोट नहीं होगी भूख का बाज़ार फलता-फूलता रहेगा।

(लेखक जन स्वास्थ्य वैज्ञानिक एवं राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त होमियोपैथिक चिकित्सक हैं)

यू.पी.ए. सरकार की अघोषित नयी शिक्षा नीति

(पेज 23 से आगे)

बाहर होते जायेंगे। इसके अतिरिक्त, एक और ख़तरनाक क़दम जिसकी बात यह बिल करता है वह यह है कि हर विश्वविद्यालय अपना पाठ्यक्रम स्वयं तय करने की आज़ादी रखेगा। यानी कोई सामान्य पाठ्यक्रम की व्यवस्था नहीं होगी और कोई भी समझ सकता है कि कालान्तर में पाठ्यक्रम के मामले में भी वर्ग पदानुक्रम की व्यवस्था स्थापित हो जाएगी। ये सारे क़दम उच्च शिक्षा को आम जनता की पहुँच से और अधिक दूर पहुँचा देंगे।

साफ़ है कि यू.पी.ए. सरकार प्राथमिक शिक्षा और उच्च शिक्षा, दोनों में ही जो सुधार कर रही है, वह पूँजीपति वर्ग और भारत और वैश्विक पूँजीवाद की ज़रूरतों के मद्देनज़र कर रही है। एक ओर तो उसे कुशल और पढ़ी-लिखी श्रम शक्ति की ज़रूरत है। इसलिए प्राथमिक शिक्षा, चाहे वह किसी भी गुणवत्ता की हो, की पहुँच को थोड़ा और विस्तारित किया जा रहा है। विश्वविद्यालयों की शिक्षा को महँगा बनाकर आई.टी.आई. और पॉलीटेक्निक अधिक संख्या में खोले जा रहे हैं। उच्च शिक्षा के परिसरों को अमीरज़ादों की बपौती बनाया जा रहा है। यह है भारतीय पूँजीपति वर्ग की नयी शिक्षा नीति का सार।

शिक्षा जगत

छात्र आन्दोलन से भयाक्रान्त लखनऊ विश्वविद्यालय प्रशासन द्वारा दिशा छात्र संगठन पर ग़ैर-क़ानूनी प्रतिबन्ध

लखनऊ विश्वविद्यालय उत्तर प्रदेश के सबसे बड़े विश्वविद्यालयों में से एक है। इस विश्वविद्यालय में हर साल क़रीब 45,000 छात्र दाखिला लेते हैं। प्रादेशिक राजधानी का विश्वविद्यालय होने के कारण प्रदेश ही नहीं बल्कि आस-पास के राज्यों के भी तमाम छात्र यहाँ दाखिला लेते हैं। लेकिन इन सबके बावजूद पूरे विश्वविद्यालय में लम्बे समय से शैक्षणिक और व्यवस्थागत अराजकता का राज्य था। छात्रसंघ भंग होने के बाद से छात्रों के पास कोई भी ऐसा मंच नहीं था जिसके ज़रिये वे अपना प्रतिरोध या शिकायतें दर्ज कराते। छात्रों के प्रति विश्वविद्यालय प्रशासन का रुख़ ऐसा था कि अगर कोई छात्र अपनी समस्या लेकर प्रशासन के पास जाता तो उसे निलम्बित कर दिया जाता या अव्यवस्था फैलाने के नाम पर उस पर अर्थदण्ड लगा दिया जाता था। विश्वविद्यालय में पिछले लम्बे समय से कोई कुलपति नहीं था और प्रति कुलपति यू.एन.द्विवेदी कार्यकारी कुलपति की भूमिका निभा रहे थे। प्रॉक्टर ए.एन.सिंह पिछले एक दशक से भी लम्बे समय से प्रॉक्टर के पद पर आसीन हैं और उन्होंने छात्रों को दबाने के लिए कैम्पस के भीतर एक पुलिस चौकी तक खुलवा डाली है!

लखनऊ विश्वविद्यालय के छात्र अक्टूबर माह की शुरुआत से दिशा छात्र संगठन के नेतृत्व में विश्वविद्यालय में मौजूद तमाम समस्याओं और प्रशासन के तानाशाहीपूर्ण रवैये के ख़िलाफ़ एक आन्दोलन चला रहे थे। समस्याओं की प्रकृति ऐसी है कि कोई भी छात्र अगर पढ़ना चाहे तो भी नहीं पढ़ सकता है। छात्रावासों में मेस तक की व्यवस्था नहीं है और खाना पकाने की इज़ाज़त नहीं है; नतीजतन, छात्र ढाबों पर खाने को मजबूर हैं। हर वर्ष बड़ी संख्या में छात्र इसके कारण बीमार पड़ते हैं और कई बार उन्हें परीक्षा तक छोड़नी पड़ जाती है। शौचालय बन्द पड़े हैं या खुले भी हैं तो उनमें साफ़-सफ़ाई की कोई व्यवस्था नहीं है। पूरे कला संकाय में एक भी शौचालय नहीं है। हर वर्ष दाखिले के फ़ॉर्म 350 से 500 रुपये में बेचे जाते हैं और एक फ़ॉर्म से आवेदक सिर्फ़ एक पाठ्यक्रम में आवेदन कर सकता है। लाईब्रेरी के लिए हर वर्ष फण्ड आता है लेकिन लम्बे समय से उसमें नयी ख़रीद नहीं की गई है और किताबें छात्रों के लिए पुरानी पड़ चुकी हैं। परीक्षा फ़ार्म और पुनर्मूल्यांकन फ़ार्म तक 300 और 200 रुपये तक में बेचे जाते हैं। वहीं कैम्पस के भीतर छात्रों पर प्रॉक्टर ए.एन. सिंह कॉरीडोर में बात करने या गीत गाने पर भी चलते-चलते 50 रुपये तो कभी 100 रुपये जुर्माना कर देते हैं! कैम्पस और उसके आस-पास के इलाक़ों में पुलिस छात्रों का निर्मम उत्पीड़न करती है और कहीं पर भी छात्रों को थप्पड़ मार देना, उनका आई कार्ड छीन लेना या उन्हें बेइज़्ज़त करना आम बात है।

ऐसी ही तमाम समस्याएँ थीं, जिनके विरुद्ध दिशा छात्र संगठन के नेतृत्व में छात्रों ने एक पर्चा निकाला और पूरे विश्वविद्यालय में वितरित किया। 3 नवम्बर को लखनऊ विश्वविद्यालय में नए कुलपति श्री मनोज कुमार मिश्रा की नियुक्ति हुई। इसके बाद 'दिशा' ने एक 18-सूत्रीय माँगपत्रक पर पूरे विश्वविद्यालय में हस्ताक्षर अभियान शुरू किया। 18 नवम्बर तक इस माँगपत्रक पर क़रीब डेढ़ हज़ार हस्ताक्षर करके छात्र सैकड़ों की संख्या में कुलपति कार्यालय पहुँचे। वहाँ छात्रों के एक छह-सदस्यीय प्रतिनिधि मण्डल ने कुलपति से मुलाक़ात की। क़रीब 45 मिनट चली वार्ता के बाद कुलपति ने छात्रों की माँगों को माना और उन्हें पूरा करने के लिए वक्त माँगा। इसके बाद छात्र प्रतिनिधि बाहर आए और उन्होंने क़रीब 800 छात्रों के साथ

दिशा छात्र संगठन के अभिनव और दीपक को गिरफ़्तार करके ले जाती पुलिस

मिलकर एक शान्तिपूर्ण जुलूस निकाला और महमूदाबाद छात्रावास की ओर बढ़ने लगे। लेकिन प्रॉक्टर ए. एन. सिंह को यह बात नागवार गुज़री कि छात्रों ने इतनी बड़ी संख्या में कुलपति से मुलाकात की। प्रॉक्टर ने विजय जुलूस के बीच ही दिशा छात्र संगठन के संयोजक अभिनव सिन्हा को गिरफ़्तार करने के लिए पुलिस को भेजा, लेकिन छात्रों ने पुलिस को वहाँ से खदेड़ दिया। इसके बाद महमूदाबाद छात्रावास में छात्रों ने एक सभा की और आन्दोलन का समीक्षा-समाहार किया। सभा के समाप्त होने के बाद जब छात्र वहाँ से विसर्जित होने लगे तो प्रॉक्टोरियल बोर्ड के सदस्य पुलिस को लेकर वहाँ पहुँच गये। वहाँ पुलिस ने अभिनव और दिशा छात्र संगठन के एक अन्य कार्यकर्त्ता दीपक को हिरासत में ले लिया। लेकिन यह ख़बर छात्रावासों में पहुँचते ही छात्रों ने पुलिस और प्रॉक्टोरियल बोर्ड के सदस्यों को घेर लिया और पुलिस की जीप के आगे लेट गये। क़रीब 1 घंटे तक छात्रों ने जीप को वहाँ से जाने नहीं दिया और गिरफ़्तार छात्र नेताओं के कहने पर ही छात्र वहाँ से हटे। इसके बाद क़रीब 1000 छात्र वहाँ से कुलपति कार्यालय का घेराव करने के लिए बढ़ने लगे। इतने में कुलपति वहाँ ख़ुद आ गये और उन्होंने छात्रों की सभी माँगों को मानने का आश्वासन दिया। छात्रों ने अपने नेताओं को तत्काल रिहा करवाने की माँग की जिस पर कुलपति ने पुलिस प्रशासन और प्रॉक्टर को उनकी अनुमति के बिना पुलिस को परिसर के अन्दर बुलाने के लिए फटकार लगाई और दिशा छात्र संगठन के दोनों छात्रों को रिहा करवाया। कुलपति महोदय ने रिहा नेताओं से वार्ता में इस बात का आश्वासन दिया कि छात्रों की सभी माँगें मानी जायेंगी। प्रॉक्टोरियल बोर्ड का कहना था कि ये दोनों छात्र अन्य विश्वविद्यालयों के छात्र हैं लखनऊ विश्वविद्यालय के नहीं। इस पर कुलपति ने स्वयं माना कि विश्वविद्यालय परिसर के भीतर कोई भी सही बात उठाने वाला 'आउटसाइडर' नहीं होता।

अगले दिन लखनऊ के सारे अख़बारों में हुई व्यापक कवरेज में सभी ने एक स्वर से लिखा कि क़रीब दो दशक बाद लखनऊ विश्वविद्यालय में सन्नाटा टूटा और छात्रों के वास्तविक मुद्दों पर इतना बड़ा आन्दोलन हुआ।

छात्रों के भारी दबाव में बाहर आकर उनसे बात करते हुए कुलपति

लेकिन इस वार्ता के तीन दिन बाद ही कुलपति मनोज मिश्रा स्वयं अपनी बात से मुकर गये और प्रॉक्टर की शिकायत करने जा रहे छात्रों को डराने-धमकाने की कोशिश की और कहा कि कोई 'बाहरी तत्त्व' विश्वविद्यालय के भीतर नहीं आएगा। एक दशक से प्रॉक्टर पद पर आसीन ए. एन. सिंह ऊपर से दबाव बनाकर कुलपति के रुख को बदलने में सफ़ल हो गये थे और अब छात्रों का सामना महज़ प्रॉक्टर से नहीं बल्कि पूरे विश्वविद्यालय प्रशासन से था।

इसके चार दिन बाद ही विश्वविद्यालय प्रशासन ने एकतरफ़ा और ग़ैर-क़ानूनी तरीक़े से दिशा छात्र संगठन पर प्रतिबन्ध लगा दिया। साफ़ है कि छात्र आन्दोलन की विजय से विश्वविद्यालय प्रशासन और तमाम पदों पर आसीन भ्रष्टाचारी डर गये थे। यही कारण था कि उस छात्र संगठन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया जिसने छात्रों का आन्दोलन में नेतृत्व किया था। यहाँ ग़ौरतलब बात यह भी है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का छात्र संगठन अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद इस बीच प्रॉक्टर के साथ दलाली में लिप्त रहा और छात्र आन्दोलन को तोड़ने के लिए मुखबिरी से लेकर झूठी गवाहियाँ देने तक से नहीं चूका। बताने की ज़रूरत नहीं है कि गद्दारी, मुख़बिरी और दलाली संघ के आनुषंगिक संगठनों की पुरानी फितरत रही है। छात्रों ने एकजुट होकर इस प्रतिबन्ध का विरोध किया और इसके ख़िलाफ़ लड़ने के लिए प्रतिबद्धता ज़ाहिर की। छात्रों ने कहा कि दिशा छात्र संगठन का कार्य विश्वविद्यालय में जारी रहेगा।

दिशा छात्र संगठन के संयोजक अभिनव ने कहा कि उनका संगठन इस ग़ैर-क़ानूनी प्रतिबन्ध के खिलाफ़ अदालत जाएगा और छात्रों के बीच उनका काम जारी रहेगा। ऐसा कोई भी फ़रमान छात्रों के बीच एक क्रान्तिकारी विकल्प खड़ा करने से दिशा को रोक नहीं सकता। पूरे देश के ही विश्वविद्यालय कैम्पसों में जनवाद का क्षरण हो रहा है और जो परिसर कभी स्वतन्त्रता, जनवाद और समानता के विचारों की जन्मभूमि रहे थे अब उन्हीं कैम्पसों के भीतर इन विचारों की भ्रूण हत्या की साज़िश तानाशाह सरकारें रच रही हैं। लेकिन इतिहास बताता है कि दमन जितना अधिक होता है, प्रतिरोध उतना ही ज़बर्दस्त होता है।

– आह्वान संवाददाता

समाज

गोरखपुर के मज़दूर आन्दोलन के अनुभव और उसके सबक

देश में पूँजीवादी विकास के साथ एक ओर बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों, सेज आदि का विकास हो रहा है, दूसरी ओर, छोटे-छोटे क़स्बो-शहरों के इर्दगिर्द भी छोटे-बड़े औद्योगिक क्षेत्र बढ़ते जा रहे है। इन जगहों के मज़दूरों की हालत बड़े औद्योगिक केन्द्रों के मुक़ाबले और भी बदतर है। यहाँ के कारखानों में किसी तरह के श्रम क़ानूनों का कोई मतलब नहीं है, श्रम विभाग से लेकर स्थानीय प्रशासन तक मालिकों की जेब में रहता है। बहुत से कारखाने तो स्थानीय राजनेताओं और अपराधी क़िस्म के उद्योगपतियों के हैं और इन औद्योगिक क्षेत्रों में उनका गुण्डा राज बेरोकटोक चलता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश के गोरखपुर, बनारस आदि शहरों के इर्दगिर्द उभरे इस तरह के औद्योगिक क्षेत्रों में मज़दूर प्रतिरोध की नयी लहर उठती दिखाई दे रही है। सतह के नीचे लम्बे समय से जारी सुगबुगाहट पिछले दिनों एक विस्फोट के रूप में सामने आयी।

गोरखपुर में क़रीब तीन महीने तक चले आन्दोलन में पिछले दिनों मज़दूरों ने एक बड़ी जीत हासिल की जब मज़दूरों और नागरिकों के भारी दबाव के आगे अन्त: प्रशासन को झुकना पड़ा और गिरफ़्तार मज़दूर नेताओं पर से फ़र्ज़ी मुक़दमे हटाने और हड़ताली मज़दूरों की माँगें पूरी कराने के लिए लिखित समझौता करना पड़ा। इससे पहले 21 अक्टूबर की रात को प्रशासन ने चारों गिरफ़्तार मज़दूर नेताओं को बिना शर्त रिहा कर दिया था। चार मज़दूर नेताओं की अवैध गिरफ़्तारी और बर्बर पिटाई के विरोध में 20 अक्टूबर को बरगदवाँ औद्योगिक क्षेत्र के पाँच कारख़ानों में हड़ताल हो गयी थी और 1500 से अधिक मज़दूरों ने ज़िलाधिकारी कार्यालय पर धरना और क्रमिक भूख हड़ताल शुरू कर दी थी। गोरखपुर मज़दूर आन्दोलन समर्थक नागरिक मोर्चा की ओर से गोरखपुर में नागरिक सत्याग्रह आन्दोलन शुरू करने की घोषणा से ज़िला प्रशासन पर और भी दबाव बढ़ गया था। कलक्ट्रेट परिसर में बैठे मज़दूरों को भारी संख्या में पुलिस, पीएसी व रैपिड ऐक्शन फोर्स ने घेर रखा था, लेकिन मज़दूर बड़ी संख्या में डटे रहे। 22 अक्टूबर को दो अन्य कारखानों के मज़दूर भी काम बन्द करके जिलाधिकारी कार्यालय पर धरने में शामिल हो गये थे।

इन मज़दूरों की माँगें बेहद मामूली थीं। वे न्यूनतम मज़दूरी, जॉब कार्ड, ईएसआई कार्ड देने जैसे बेहद बुनियादी हक माँग रहे थे, श्रम क़ानूनों के महज़ कुछ हिस्सों को लागू करने की माँग कर रहे थे। बिना किसी सुविधा के 12-12 घण्टे, बेहद कम मज़दूरी पर, अत्यन्त असुरक्षित और असहनीय परिस्थितियों में ये मज़दूर आधुनिक गुलामों की तरह से काम करते रहे हैं। गोरखपुर के सभी कारख़ानों में ऐसे ही हालात हैं। किसी कारख़ाने में यूनियन नहीं है, संगठित होने की किसी भी कोशिश को फौरन कुचल दिया जाता है। गोरखपुर में दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा के माध्यम से काम कर रहे कुछ छात्र-युवा कार्यकर्ताओं ने कुछ महीने पहले इन मज़दूरों के आन्दोलन में शिरकत शुरू की और उन्हें श्रम कानूनों, मज़दूरों के अधिकारों आदि के बारे में जागरूक करने तथा संघर्ष के रूपों और तौर-तरीक़ों के सम्बन्ध में मदद करने का काम शुरू किया।

इसके बाद पहली बार मई 2009 में तीन कारख़ानों के मज़दूरों ने संयुक्त मज़दूर अधिकार संघर्ष मोर्चा बनाकर न्यूनतम मज़दूरी देने और काम के घण्टे कम करने की लड़ाई लड़ी और आंशिक कामयाबी पायी। इससे बरसों से नारकीय हालात में खट रहे हज़ारों अन्य मज़दूरों को भी हौसला मिला। इसीलिए यह आन्दोलन इन दो कारखानों के ही नहीं बल्कि पूर्वी उत्तर प्रदेश के तमाम उद्योगपतियों को बुरी तरह खटक रहा था और वे हर क़ीमत पर इसे कुचलकर मज़दूरों को "सबक़ सिखा देना" चाहते थे। मज़दूरों और नेतृत्व के लोगों को डराने-धमकाने, फोड़ने की हर कोशिश नाकाम हो जाने के बाद यह सुनियोजित मुहिम छेड़ी गयी कि इस आन्दोलन को "माओवादी आतंकवादी" और "बाहरी तत्त्व" चला रहे हैं। प्रशासन और श्रम विभाग के अफ़सर तो उनके पक्ष में थे ही, शहर के भाजपा सांसद योगी आदित्यनाथ भी खुलकर उद्योगपतियों के पक्ष में उतर आये और मज़दूर आन्दोलन के ख़िलाफ़ बाक़ायदा मोर्चा खोल दिया। लेकिन मज़दूर पूरी तरह एकजुट थे। ऐसे दुष्प्रचारों और धमकियों तथा हमलों से डरने के बजाय उनका लड़ने का हौसला और बढ़ गया। वे यह भी समझ गये कि उनकी लड़ाई किसी एक-दो फ़ैक्टरी मालिक से नहीं, इस पूरी लुटेरी व्यवस्था से है, और उनका संघर्ष लम्बी लड़ाई की एक कड़ी है।

पिछली 24 सितम्बर को मज़दूरों ने प्रशासन को समझौता कराने के लिए बाध्य कर दिया था। ज़िलाधिकारी की मौजूदगी में उपश्रमायुक्त ने 15 दिनों के भीतर मज़दूरों की माँगें पूरी कराने का आश्वासन लिखकर दिया था। 15 दिनों के भीतर समझौता लागू न होने पर ज़िला प्रशासन को समीक्षा बैठक करनी थी। दो सप्ताह से अधिक का समय बीत जाने पर भी कारखाना मालिकों ने आधे से अधिक मज़दूरों को काम पर नहीं लिया था। न्यूनतम मज़दूरी सहित ज़्यादातर माँगों पर कोई कार्रवाई नहीं गयी थी। बार-बार प्रशासन और श्रम विभाग से समीक्षा की

माँग करने पर भी जब कोई सुनवाई नहीं हुई तो थकहारकर 14 अक्टूबर से मज़दूरों ने 30-30 के जत्थों में डीएम कार्यालय पर क्रमिक भूख हड़ताल शुरू कर दी। उनके समर्थन में सैकड़ों मज़दूर भी धरने पर बैठ गये। अब तक हाथ पर हाथ धरे बैठा प्रशासन अब फ़ौरन हरक़त में आ गया और पूरी ताक़त से मज़दूरों पर टूट पड़ा। मज़दूर आन्दोलन को कुचलने के लिए प्रशासन ने फैक्ट्री मालिकों के इशारे पर एकदम नंगा आतंकराज क़ायम कर दिया।

15 अक्टूबर की शाम को ज़िला प्रशासन ने चारों नेताओं को बातचीत के बहाने एडीएम सिटी के कार्यालय में बुलाया जहाँ खुद ए.डीएम. सिटी, सिटी मजिस्ट्रेट और कैंट थाने के इंस्पेक्टर ने अन्य पुलिसवालों के साथ मिलकर उन्हें लात-घूँसों से बुरी तरह मारा। चारों को जेल भेज दिया गया तथा शान्ति भंग करने की धाराओं के अतिरिक्त डकैती और 'एक्सटॉर्शन' के आरोप में फ़र्ज़ी मुक़दमे दर्ज कर लिए गये। अगले दिन मालिकों की ओर से इन चार के अलावा 9 मज़दूरों पर जबरन मिल बन्द कराने, धमकियाँ देने जैसे आरोपों में झूठे मुक़दमे दर्ज कराये गये। उसी रात ज़िलाधिकारी कार्यालय में अनशन और धरने पर बैठे मज़दूरों पर हमला बोलकर उन्हें वहाँ से हटा दिया गया। महिला मज़दूरों को घसीट-घसीटकर वहाँ से हटाया गया। प्रशान्त, प्रमोद, तपीश एवं मुकेश को ले जाने का विरोध कर रही महिलाओं के साथ मारपीट की गयी।

प्रशासन ने चारों मज़दूर नेताओं पर गैंग्स्टर एक्ट लगाने की भी पूरी तैयारी कर रखी थी। प्रशासन की मंशा कुछ मार्क्सवादी साहित्य, बिगुल मज़दूर अख़बार और पेन ड्राइव आदि की बरामदगी दिखाकर उन्हें "माओवादी" बताते हुए संगीन धाराएँ लगाने की थी और कुछ अधिकारियों ने मीडिया में इस आशय के बयान भी दिये। लेकिन फिर कुछ पत्रकारों द्वारा ऐसे क़दम के उल्टा पड़ जाने के ख़तरे के बारे में चेतावनी देने तथा व्यापक मज़दूर आक्रोश को देखते हुए उन्हें हाथ रोकना पड़ा। कुछ वरिष्ठ पत्रकारों ने बाद में बताया कि अगर मज़दूरों और नागरिकों की व्यापक गोलबन्दी तत्काल न हुई होती तो पुलिस की योजना थी कि प्रमुख नेताओं का एन्काउण्टर कर दिया जाये। अदालत में पेश करने के लिए लाये जाते समय भागने की कोशिश कर रहे "नक्सली" मुठभेड़ में मारे गये, इस आशय की कहानी तैयार कर ली गयी थी। यहाँ यह बताना ज़रूरी है कि स्थानीय "चैम्बर ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़, अलग-अलग फैक्टरी मालिक और पुलिस एवं नागरिक प्रशासन के अधिकारी पिछले ढाई महीने से मीडिया में इस आशय के बयान दे रहे थे कि इस मज़दूर आन्दोलन में "बाहरी तत्त्व", "नक्सली" और "माओवादी" सक्रिय हैं। स्थानीय भाजपा सांसद योगी आदित्यनाथ ने भी कई ऐसे बयान जारी किये। मामले को साम्प्रदायिक रंग देते हुए उन्होंने यह भी दावा किया कि इस आन्दोलन में माओवादियों के अतिरिक्त चर्च भी सक्रिय है। इस तरह मालिक-प्रशासन-नेताशाही के गँठजोड़ ने मीडिया के ज़रिये दुष्प्रचार करके मज़दूर आन्दोलन को कुचल देने के लिए महीनों पहले से माहौल बनाना शुरू कर दिया था।

समझौते के बाद भी मज़दूर समझ रहे थे कि मालिकान इतनी आसानी से माँगों को लागू नहीं करने वाले हैं। और ऐसा ही हुआ भी। अगले ही दिन से मज़दूरों को फिर से जूझना पड़ गया। तीन दिन बीत जाने के बाद भी मॉडर्न लेमिनेटर्स लि. और मॉडर्न पैकेजिंग प्रा. लि. ने मज़दूरों को काम पर नहीं लिया। प्रशासन भी मालिकों के साथ मिलकर मज़दूरों से लुकाछिपी का खेल खेलता रहा और धोखाधड़ी करता रहा। दरअसल मालिकों को फैक्ट्री तो चलानी थी लेकिन वे मज़दूरों को पूरी तरह झुकाकर और तोड़कर अपनी शर्तों पर वापस लेना चाहते थे और आन्दोलन के अगुआ मज़दूरों को बाहर कर देना चाहते थे। लेकिन मज़दूरों ने उन्हें ऐसा करारा जवाब दिया जिसकी उन्हें सपने में भी उम्मीद नहीं होगी। मज़दूरों ने आपात बैठक करके निर्णय लिया कि वे अब पवन बथवाल के कारखाने में काम ही नहीं करेंगे। मज़दूरों ने तय किया कि जिन मज़दूरों को श्रम क़ानून लागू हुए बिना ही पवन बथवाल के यहाँ काम करना हो वे इसके लिए स्वतन्त्र हैं लेकिन मज़दूरों की बहुसंख्या ऐसे मज़दूर विरोधी मालिक के लिए काम नहीं करना चाहती। सैकड़ों मज़दूरों ने डीएलसी कार्यालय में सामूहिक इस्तीफ़ा लिखकर दे दिया। कारखाने की क़रीब दो दर्जन स्त्री मज़दूरों ने तो पहले ही दिन कह दिया था कि वे बथवाल के कारखाने में काम नहीं करेंगी और उसी दिन मुआवज़े सहित अपना हिसाब ले लिया था। मज़दूरों ने यह भी घोषणा की कि अन्य जगहों पर काम तलाशने और काम करने के साथ ही वे अब पूरे पूर्वी उत्तर प्रदेश में श्रम क़ानूनों के घोर उल्लंघन के सवाल पर मज़दूरों के बीच प्रचार करेंगे और गोरखपुर प्रशासन तथा उत्तर प्रदेश सरकार के मज़दूर विरोधी-ग़रीब विरोधी चेहरे को नंगा करेंगे। श्रम विभाग से लेकर पुलिस-प्रशासन तक यहाँ मालिकों के चाकर की भूमिका निभाते हैं और मज़दूरों के लिए किसी क़ानून का कोई मतलब नहीं रह गया है। जिला स्तर से लेकर प्रदेश स्तर तक के अफ़सरों को मिलमालिक कठपुतली की तरह अपने इशारों पर नचाते हैं। मज़दूर अब टोलियाँ बनाकर पूर्वी प्रदेश के औद्योगिक क्षेत्रों में इसका भण्डाफोड़ करेंगे और पूरे पूर्वी उत्तर प्रदेश में श्रम क़ानूनों के अमल के सवाल पर व्यापक मज़दूर आन्दोलन खड़ा करने की तैयारी करेंगे।

इस आन्दोलन ने मज़दूरों की व्यापक आबादी और आम नागरिकों के सामने इस व्यवस्था का असली चेहरा नंगा कर दिया। लोगों ने देखा कि किस तरह सरकार, प्रशासन, पुलिस, अदालत, जन-प्रतिनिधि, चुनावी नेता सब मिलकर एक बेहद जायज़ और न्यायपूर्ण आन्दोलन को कुचलने पर आमादा हो गये। मज़दूरों ने ढाई महीनों के दौरान गोरखपुर से लेकर लखनऊ तक, हर स्तर पर बार-बार अपनी बात पहुँचायी लेकिन "सर्वजन हिताय" की बात करने वाली सरकार कान में तेल डालकर सोती रही।

इस आन्दोलन की सबसे बड़ी ताक़त थी मज़दूरों की व्यापक एकजुटता। यह एकजुटता अनेक रूपों में देखने को

आयी। आम तौर पर ठेका तथा दिहाड़ी मज़दूर आन्दोलन से अलग-थलग पड़ जाते हैं और उनकी माँगों पर ध्यान नहीं दिया जाता। लेकिन पिछले छह महीनों से जारी गोरखपुर के आन्दोलन में – चाहे अंकुर उद्योग व वीएन डायर्स की मिलों की लड़ाई हो, या मॉडर्न की दोनों बोरा मिलों की – ठेका और दिहाड़ी मज़दूर बाक़ी मज़दूरों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़े और बाकी मज़दूरों ने भी उनकी विशिष्ट माँगों पर पूरा साथ दिया। इसीलिए, उनके बीच फूट डालने की मालिकों की तमाम कोशिशें कामयाब नहीं हो सकीं। पूरे बरगदवां क्षेत्र के मज़दूरों ने इस लड़ाई में शानदार एकजुटता का परिचय दिया। मज़दूर नेताओं की गिरफ़्तारी के विरोध में 20 अक्टूबर को पाँच कारखानों – मॉडर्न लेमिनेटर्स, मॉडर्न पैकेजिंग, अंकुर उद्योग, वीएन डायर्स कपड़ा मिल व वीएन डायर्स धागा मिल में पूरी तरह हड़ताल हो गयी और लगभग सारे मज़दूर जुलूस में शामिल हुए। अगले दिन दो और कारखानों – लक्ष्मी साइकिल रिम तथा बर्तन फैक्ट्री – के मज़दूर भी काम बन्द करके कलक्ट्रेट पर पहुँच गये। इलाक़े के कई और कारख़ानों के मज़दूर भी लगातार आन्दोलन को विभिन्न तरीक़ों से सहयोग देते रहे। फैक्ट्री गेट पर देर रात होने वाली मीटिंगों में कई कारख़ानों के मज़दूर सैकड़ों की संख्या में जुटते थे। मॉडर्न के मज़दूरों के आन्दोलन के दौरान गेट पर चलने वाले सामूहिक भोजनालय के लिए अंकुर और वीएन डायर्स के मज़दूरों ने ही नहीं, पास के घोसीपुरवा गाँव के लोगों ने भी अनाज, तेल, गोइठा, पैसे आदि इकट्ठा करके पहुँचाये।

मज़दूरों ने शुरू से अपने आन्दोलन से व्यापक मज़दूर आबादी और फिर नागरिक आबादी को जोड़ने के लिए उनके बीच में प्रचार किया तथा अनेक पर्चे निकाले। छात्रों-नौजवानों को सम्बोधित करके भी पर्चे निकाले गये तथा कालेजों और विश्वविद्यालय में बाँटे गये। इन सबका काफ़ी अच्छा असर हुआ और आन्दोलन के पक्ष में जनसमर्थन जुटाने में मदद मिली।

इस आन्दोलन की ख़बरें उत्तर प्रदेश के मज़दूरों के बीच दूर-दूर तक फैल गयीं और कई जगह तो मज़दूरों ने केवल इस आन्दोलन से प्रेरित होकर स्वत:स्फूर्त ढंग से अपने हक़ पाने के लिए लड़ाई छेड़ दी। रामपुर, चन्दौली के पाँच बोरा कारख़ानों के मज़दूरों ने गोरखपुर के मज़दूरों द्वारा बाँटे गये पर्चे से प्रेरित होकर एक साथ हड़ताल की और आंशिक सफलता भी पायी। बनारस के लहरतारा औद्योगिक क्षेत्र, हरिद्वार के सिडकुल औद्योगिक क्षेत्र और इटावा तक इस आन्दोलन का असर गया। जगह-जगह से मज़दूरों ने फ़ोन करके अपनी एकजुटता और समर्थन का भरोसा जताया और मज़दूर नेताओं को अपने यहाँ भी संघर्ष की अगुवाई करने का न्योता दिया।

गोरखपुर के मज़दूर आन्दोलन का एक चरण समाप्त हो गया लेकिन मज़दूरों की व्यापक आबादी अब यह अच्छी तरह समझ चुकी है कि अगर अपने अधिकार पाने हैं तो उन्हें पूरी व्यवस्था के ख़िलाफ़ एक लम्बी लड़ाई लड़नी होगी। उनके बीच से अब पुलिस-प्रशासन-मालिकान के गुण्डों आदि का ख़ौफ़ निकल चुका है। यह इस आन्दोलन की बहुत बड़ी उपलब्धि है।

पिछले कई वर्षों से गोरखपुर ही नहीं, नोएडा और दिल्ली सहित देश भर में मज़दूर अधिकांश लड़ाइयाँ हारते रहे हैं। इसकी सबसे बड़ी वजह है उनका बिखराव। जो पुरानी यूनियनें हैं वे ज़्यादातर बड़े कारखानों के सफ़ेदपोश मज़दूरों तक सिमट चुकी हैं। लाखों छोटे-छोटे कारखानों में बेहद कम मज़दूरी पर खट रहे नियमित, दिहाड़ी, ठेका, तरह-तरह के टेम्परेरी और कैज़ुअल मज़दूरों के हितों की ये नुमाइन्दगी ही नहीं करतीं – जबकि ये मज़दूर देश की कुल मज़दूर आबादी के 95 प्रतिशत से भी ज़्यादा हैं। सबसे बर्बर शोषण और उत्पीड़न के शिकार इन करोड़ों मज़दूरों को क़िस्म-क़िस्म के दल्ले, भ्रष्ट यूनियन नेता और चुनावी पार्टियों के स्थानीय नेता भरमाते-बरगलाते रहते हैं। सरकारी नीतियाँ मिल-मालिकों को लूट की खुली छूट देती हैं। लेबर कोर्ट से लेकर हाई कोर्ट-सुप्रीम कोर्ट तक में ज़्यादातर फ़ैसले मालिकों के पक्ष में और मज़दूरों के ख़िलाफ़ होते हैं। पुलिस-प्रशासन, नेता-अफ़सर सब मालिकों के पक्ष में एक हो जाते हैं। अख़बार और टीवी भी उन्हीं की भाषा बोलते हैं।

ऐसे में ज़्यादातर मज़दूर भी मान बैठे हैं कि हमें तो इन्हीं हालात में नर्क के गुलामों की ज़िन्दगी बसर करते हुए अपनी हड्डियाँ निचोड़कर मालिक की तिजोरी भरते रहना है। सच तो यह है कि कुछ महीने पहले तक इन तीन कारख़ानों के मज़दूर भी बहुत पस्ती के शिकार थे – लेकिन मालिकान ने पीछे धकेलते-धकेलते उन्हें इस क़दर कोने में पहुँचा दिया कि अब और पीछे नहीं हटा जा सकता था। तब उन्होंने संगठित होकर लड़ने का फ़ैसला किया। उनके पास संगठित संघर्ष का ज़्यादा अनुभव भी नहीं था लेकिन वे अपनी एकजुटता की ताक़त के बूते पर लड़े और जीते।

अब मज़दूरों को अपने संगठित होने के इस सिलसिले को अगली मंजिल में ले जाना होगा। वे यहीं पर रुक नहीं सकते। बरगदवा से लेकर गीडा, सहजनवा ही नहीं पूरे पूर्वी उत्तर प्रदेश के मेहनतकशों को अपने-अपने कारखानों-इलाक़ों में एकजुट और संगठित होने की प्रक्रिया शुरू करनी होगी। दलाल, मक्कार, नकली, भूजाछोर मज़दूर नेताओं को किनारे लगाकर अपने जुझारू संगठन बनाने होंगे और एकजुट होकर आगे बढ़ना होगा। अगर मज़दूर एक रहेंगे तो मालिक-मैनेजमेंट और उनके पिट्ठू अफ़सरान उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। अपने हक़ की लड़ाई वे शानदार तरीक़े से जीतेंगे। गोरखपुर के इस सफल मज़दूर संघर्ष का यही सबसे बड़ा सबक़ है। इसने यह भी दिखा दिया है कि व्यापक मज़दूर आबादी के बीच अपने हालात के प्रति गुस्सा और इसके विरुद्ध लड़ने का जीवट है। ज़रूरत ऐसे युवा कार्यकर्त्ताओं की है जो उनके बीच काम करते हुए उन्हें मज़दूर वर्ग के ऐतिहासिक मिशन से परिचित करायें और उनकी राजनीतिक चेतना को क्रमश: विकसित करते हुए उन्हें व्यापक संघर्षों के लिए तैयार करें।

– सत्यप्रकाश

समाज

आसाराम बापू हत्या और सम्पत्ति कब्ज़े में फँसे

धार्मिक पूँजीवाद के अपराध या अपराधी पूँजीवाद का धर्म

● सुजय

हाल ही में आसाराम बापू के मठों में चार रहस्यमय मौतें हुईं। आसाराम बापू के अहमदाबाद और छिंदवाड़ा के आश्रमों में एक महीने के भीतर चार बच्चों की मौतें हुईं। इसके बाद से आसाराम बापू के आश्रम में होने वाले क्रियाकलापों के बारे में लगातार सवाल खड़े हो रहे हैं। जाँचकर्त्ताओं ने जब आश्रम के लोगों से पूछताछ को आगे बढ़ाना शुरू किया तो देश के अलग-अलग हिस्सों में आसाराम के चेलों ने उत्पात मचाना शुरू कर दिया। अपने चेलों की भक्ति से साहस पाकर आसाराम बापू ने भी सत्ता से लेकर न्यायपालिका तक को चुनौती दे डाली कि अगर हिम्मत है तो उसे गिरफ़्तार करके दिखाए! सुप्रीम कोर्ट ने आसाराम को इस मामले में किसी भी क़िस्म की राहत देने से साफ़ इन्कार कर दिया, लेकिन जैसा कि उम्मीद की जा सकती थी इस धार्मिक गुरू के ख़िलाफ़ अभी तक कोई कार्रवाई नहीं हो सकी है। और आगे भी कोई कार्रवाई होगी इसकी उम्मीद कम ही है। इसके पहले भी आसाराम बापू पर कई आपराधिक मामले दर्ज किये जा चुके हैं जिनमें से अधिकांश सम्पत्ति कब्ज़ा करने के मामले हैं। बीच-बीच में अन्य कई आरोप भी आसाराम बापू पर लगते रहे हैं।

आसाराम बापू ने अपने धार्मिक कैरियर की शुरुआत जिस जगह से की थी वहाँ के ही एक निवासी अशोक ठाकोरे ने आसाराम बापू के विरुद्ध उनकी पारिवारिक भूमि के 5 एकड़ पर कब्ज़े का आरोप लगाया है। मोटेरा गाँव के अशोक ठाकोरे ने आसाराम बापू पर आरोप लगाया है कि उन्होंने गुरू पूर्णिमा के दिन उनकी 5 एकड़ ज़मीन पर कैम्प लगाने के लिए उनके पिता से आज्ञा माँगी जो उनके पिता ने दे दी। लेकिन इसके बाद वह ज़मीन कभी उन्हें वापस नहीं मिली। इसी प्रकार सूरत के पास जहाँगीरपुरा में एक किसान अनिल व्यास की 34,400 वर्ग मीटर ज़मीन पर आसाराम बापू के आश्रम ने कब्ज़ा कर लिया। गुजरात सरकार तो पूरी की पूरी ही आसाराम बापू की चेला मण्डली नज़र आती है क्योंकि उसने इस अवैध कब्ज़े को नियमितीकृत कर दिया। हालाँकि बाद में गुजरात हाईकोर्ट ने इस नियमितीकरण को अवैध ठहराया और यह मामला अभी कोर्ट में चल रहा है। दिल्ली के राजौरी गार्डन की सुदर्शन कुमारी के मकान के भूतल पर आसाराम बापू के आश्रम ने कब्ज़ा कर लिया है। यह मामला भी न्यायाधीन है। आसाराम बापू ने तो सरकार तक को नहीं छोड़ा। बिहार सरकार ने आरोप लगाया है कि आसाराम बापू ने पटना में बिहार सरकार की ज़मीन पर कब्ज़ा कर लिया है। साथ ही, आसाराम बापू पर रतलाम में 4.7 करोड़ रुपये की बिजली चोरी का आरोप है। ये तो बस कुछ उदाहरण हैं। आसाराम बापू के अलावा कोई भी ऐसा धार्मिक बाबा नहीं है जो अवैध सम्पत्ति एकत्र करने, हत्या, बलात्कार, चोरी आदि जैसे मामलों में फँसा न हो।

ऐसे में मन में सहज ही यह प्रश्न उठता है कि धर्म को इन मोहमाया की वस्तुओं से क्या लेना-देना? धार्मिक बाबाओं का सम्पत्ति, स्त्री आदि के प्रति मोह का क्या अर्थ? जहाँ तक संन्यासी जीवन, साधु जीवन का प्रश्न है तो इनका सम्बन्ध तो परलोक सुधारने के लिए होता है! लेकिन इन बाबाओं के जीवन को देखकर तो लगता है कि धर्म उनके इहलोक को ही स्वर्गिक बनाने का औज़ार बन गया है!

धर्म वैसे तो हमेशा ही शासक वर्गों के हाथ में एक महत्वपूर्ण औज़ार रहा है। साधु, सन्तों, पादरियों, मौलवियों का इस्तेमाल हमेशा से ही शासकों ने किया है और आज भी वे कर रहे हैं। सामन्तवाद के दौर में भी यूरोप में चर्च द्वारा और हमारे यहाँ पुरोहितों-पण्डितों द्वारा राजा की सत्ता के दिव्य वैधीकरण के बिना राजा या सामन्त की सत्ता का राजनीतिक जस्टिफ़िकेशन पूरा नहीं होता था। ज़ाहिरा तौर पर, अन्तिम जस्टिफ़िकेशन तो बल से मिलता है, लेकिन शासक वर्गों के वर्चस्व के लिए यह वैचारिक जस्टिफ़िकेशन बेहद ज़रूरी होता है। तार्किक और वैज्ञानिक दृष्टि के अभाव में और एक वर्ग समाज में आम मेहनतकश जीवन की आर्थिक और सामाजिक असुरक्षा के कारण समाज के आम मेहनतकश वर्ग सामन्तवाद के दौर के पहले से ही धर्म की शरण में जाते रहे हैं। पूँजीवाद ने जहाँ राज्य के लिए धर्म से वैधीकरण लेने की ज़रूरत को समाप्त कर दिया, वहीं नागरिक समाज (सिविल सोसायटी) में शासक वर्ग के किलों के रूप में धार्मिक संरचनाओं की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ गयी। यही कारण है कि पूँजीवाद जो वैज्ञानिकता और तार्किकता व आधुनिकता का ढोल बजाते हुए इतिहास में आया था, उसने अधिकांश जगहों पर दिखाने के लिए राज्य के मामलों में धर्म के प्रत्यक्ष दख़ल को तो ख़त्म किया (हालाँकि वास्तव में ऐसा नहीं

है), लेकिन समाज में एक ऐसी असुरक्षा और अलगाव की स्थिति पैदा की कि धर्म के नये-नये आधुनिक रूपों और संस्करणों ने जनमानस को और बुरी तरह से जकड़ लिया। भारत में अनगिनत बाबाओं का कुकुरमुत्तों की तरह गली-मोहल्लों में उग आना और उनकी विशाल चेला मण्डलियाँ पैदा होने के पीछे यही कारण है।

लेकिन पूँजीवाद ने धर्म का न सिर्फ़ उपयोग किया बल्कि उसे स्वयं ही एक पूँजीवादी उपक्रम बना दिया है। धर्म अब एक काफ़ी मुनाफ़े वाला धन्धा बन चुका है और किसी भी पूँजीवादी क्षेत्र की तरह इसमें भी काफ़ी प्रतिस्पर्द्धा है। मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवाद अब तक की सबसे गतिमान उत्पादन पद्धति है और यह अपनी छवि के अनुरूप एक विश्व की रचना कर डालता है। पूँजीवाद ने धर्म के साथ ऐसा ही किया है। इसने इसे पूँजीवादी धर्म में इस कदर तब्दील कर दिया है कि धर्म स्वयं एक धन्धा बन गया है। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था, अगर दक्षिण भारत के सामन्तवादी धर्म के व कुछ अन्य ग़ौरतलब अपवादों को छोड़ दें, जहाँ मन्दिर अर्थव्यवस्था के रूप में मन्दिर ही सबसे बड़े ज़मींदार बन गये थे। चर्च भी यूरोप में भूस्वामी बने थे लेकिन वे सामन्तवाद के सारे आर्थिक नियम-क़ानूनों के अनुरूप नहीं चलते थे। आज पूँजीवाद ने धर्म के साथ जो किया है वह कुछ अलग ही है। यह धर्म का पूर्ण व्यावसायीकरण है। और जहाँ भी व्यावसायीकरण होता है, वहाँ अपराधीकरण साथ में स्वत: ही होता है। आज धर्म के नाम पर अरबों-खरबों के वारे-न्यारे हो जाते हैं। मठों में देशभर में खरबों रुपयों की सम्पत्ति जमा है। बाबाओं की अपनी निजी सम्पत्ति की गणना करें तो उसके लिए कई गीगाबाइट्स की हार्ड डिस्क की आवश्यकता पड़ेगी! कई बाबाओं के तो अपने निजी हवाई जहाज़ और हेलीपैड तक हैं! ये देश के किसी भी अरबपति-खरबपति को टक्कर दे सकते हैं। स्वयं आसाराम बापू के देश और विदेश में मिलाकर क़रीब 350 आश्रम हैं जिनके पास अथाह सम्पत्ति है। आज स्वामी रामदेव एक धार्मिक बाबा तो है ही, साथ ही वह पतंजलि कम्पनी के सीईओ भी हैं। जी हाँ, वह कारपोरेट जगत के एक कुशल प्रबन्धक भी हैं। स्वामी रामदेव बाबाओं की नयी पैदावार में सबसे आधुनिक हैं और साथ ही सबसे फ़ासीवादी। धार्मिक फ़ासीवाद और फ़ासीवादी राष्ट्रवाद को अपने प्रवचनों की चाशनी में ढालकर स्वामी रामदेव ने भारत में फ़ासीवादी उभार को मदद पहुँचाने का हर सम्भव प्रयास किया है। हाल ही में स्वामी रामदेव ने भारत स्वाभिमान अभियान शुरू किया है। यह अभियान हर तरह से अन्धराष्ट्रवादी पुनरुत्थानवादी फ़ासीवादी विचारधारा का एक नमूना है। श्री श्री (?!) रविशंकर का 'आर्ट ऑफ़ लिविंग' तो सीधे-सीधे फ़ासीवाद से जुड़ा हुआ है। याद रहे कि महाराष्ट्र में पकड़े गये हिन्दू फ़ासीवादी आतंकवादी सशस्त्र प्रशिक्षण रविशंकर के आर्ट ऑफ लिविंग के शिविर में ही कर रहे थे। हालाँकि रविशंकर ने इससे हाथ झाड़ लिया और जैसा कि हमारा धर्मनिरपेक्ष राज्य है, इसने कुछ भी नहीं किया। रविशंकर के ऊपर भी यौन उत्पीड़न, हत्या आदि जैसे आरोप लम्बे समय से लगते रहे हैं। लेकिन अभी तक सभी धार्मिक बाबा और गुरू दण्ड संहिता के दायरे के बाहर रहे हैं। यहाँ एक क़तार में सारे बाबाओं के उदाहरण की कोई आवश्यकता नहीं है। इस सभी बाबाओं को तमाम नेताओं और चुनावी पार्टियों का समर्थन और सहयोग प्राप्त है। ख़ासतौर पर भाजपा इन्हें लेकर बहुत जज़्बाती रहती है। आसाराम बापू के फँसने पर भी एकमात्र भाजपा उसे बचाने आयी। कारण भी है। आडवाणी स्वयं आसाराम बापू के यहाँ नियमित तौर पर जाने वाले चेलों में से एक हैं। नरेन्द्र मोदी का भी इस अपराधी बाबा से काफ़ी स्नेह है। यही कारण है कि आप गुजरात राज्य कार्यालयों, राज्य परिवहन की बसों में आसाराम बापू के फोटो और सन्देश बड़े पैमाने पर लगे देख सकते हैं। उसके कई चेले तो भाजपा के महत्वपूर्ण पदाधिकारी भी हैं! रविशंकर के भक्तों में हर चुनावी पार्टी के लम्पट शामिल हैं! उसके आर्ट ऑफ़ लिविंग शिविर में निराकार से एकरूप हो जाने के नाम पर जो लम्पटई और गन्ध फैलती है, उसमें लोट लगाने के लिए देशभर से कुण्ठित छात्र-युवा, लम्पट नेता, पूँजीपति, व्यभिचारी नौकरशाह, सभी पहुँचते हैं। यही हाल, वैविध्यपूर्ण रूपों में सभी बाबाओं और उनकी चेला मण्डलियों का है। इनके आश्रम व्यभिचार, अपराध और देह व्यापार के अड्डे बन रहे हैं और इनके भीतर की जाँच-पड़ताल करना ही असम्भव है, क्योंकि इनका काम परलोक सुधारने के लिए तपस्या करना नहीं है, बल्कि यहाँ पर ऐसे-ऐसे गोरखधन्धे धर्म के नाम पर चल रहे होते हैं जिनकी कल्पना करना भी मुश्किल है। कभी-कभार कुछ निकलकर सामने आ जाता है तो थोड़ा-बहुत अन्दाज़ा चलता है।

सोचने की बात यह है कि यहाँ सवाल धर्म के अपराधीकरण का नहीं है। यह तो महज़ एक लक्षण है। असल सवाल है धर्म के पूँजीवादीकरण का। धर्म हमेशा से शासक वर्गों के हथियार का काम करता रहा है। धर्म ने हमेशा ही शासक वर्गों के वर्चस्व को पूर्ण बनाने में मदद की है। आज भी कर रहा है। पूँजीवाद के भ्रष्ट, अनाचारी, दुराचारी होने के साथ ही धर्म का अनाचारी, भ्रष्टाचारी और दुराचारी होना स्वाभाविक है। इस पर इस बात का रोना नहीं रोया जा सकता है कि हाय-हाय! शुद्धतावादी पारलौकिक धर्म बर्बाद हो गया! धर्म भ्रष्ट हो रहा है! यह किसी नैसर्गिक परिघटना पर आश्चर्य प्रकट करने जैसा होगा। धर्म कभी पारलौकिक था ही नहीं! यह तो हमेशा से इहलौकिक था, और हम सामान्य नश्वरों से कहीं ज़्यादा इहलौकिक! इसलिए यह तो होना ही था! पूँजीपति धार्मिक बनकर अपने पापों को धोने का प्रयास करते हैं; धर्म पूँजीवादी बनकर उन रंगरेलियों के मज़े लेना चाहता है जो पूँजीपतियों को नसीब होते हैं! इसीलिए धार्मिक गुरू अब प्राथमिक तौर पर पूँजीपति और धनकुबेर हैं और आध्यात्मिक गुरू बाद में जो विलासिता-बीमार मानसिकता-अपराध के बजबजाते कीचड़ में लोटपोट हो रहे हैं। ●

हँसे कि फँसे!

मनबहकी लाल

देश हँस रहा है। पार्कों में 'लाफ़्टर क्लब' और 'लाफ़्टर योगा' वाले ताली पीट-पीटकर हँस रहे हैं। 'आस्था' चैनल पर बाबा रामदेव हँस रहे हैं। न सिर्फ़ मनोरंजन बल्कि समाचार चैनलों पर भी हँसने का बाज़ार गर्म है - कहीं 'लाफ़्टर के फटके' हैं तो कहीं 'हँसी का तड़का' या फिर 'कॉमेडी का डेली डोज़'।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में अपराध, तन्त्र-मन्त्र और स्त्री-विरोधी (चाहे वे सास-बहू के सीरियल्स हों या अश्लील यौन हिंसामूलक, स्त्री का पण्यकरण करने वाले गीत-गाने और अन्य कार्यक्रम) कार्यक्रमों के साथ सबसे गर्म बाज़ार हँसने-हँसाने का है। ग़ौरतलब है कि हँसने-हँसाने का विषय भी प्राय: स्त्री ही होती है - उसकी "बेवफ़ाइयाँ," उसकी "बेवकूफ़ियाँ-चालाकियाँ" या उसका "फूहड़पन"। जो समाज उत्पीड़ितों, और बेबसों-मज़दूरों पर हँसता है, जो दबे-कुचलों की खिल्ली उड़ाता है, उस समाज के ताने-बाने में मानवतावाद और जनवाद के रेशे-धागे काफ़ी कम होते हैं। याद कीजिए, गाँवों की नाच-नौटंकियों में होने वाले कुछ प्रहसनों में पहले दलितों, पिछड़ों और स्त्रियों का किस कदर मज़ाक उड़ाया जाता था। वह सामन्ती निरंकुशता की संस्कृति थी। अब हम एक सर्वव्यापी बुर्जुआ निरंकुशता की संस्कृति के रुबरू हैं। उत्तर-औपनिवेशिक समाजों का जो रुग्ण-बौना पूँजीवाद है, इसके पास मानववाद और जनवाद के स्वस्थ-सकारात्मक मूल्य हैं ही नहीं, क्योंकि यह पुनर्जागरण-प्रबोधन जनवादी क्रान्ति का वारिस है ही नहीं।

बहरहाल, विषय की गम्भीरता में जाने की ज़रूरत नहीं है। हँसो। सभी हँस रहे हैं। टी.वी. पर हँस रहे हैं। सिनेमा में हँस रहे हैं (सालाना बनने वाली हँसने-हँसाने वाली फ़िल्मों का कारोबार तो देखो!)।

हँसो कि शीतलहर के कहर से देश में मरनेवालों का आँकड़ा पाँच सौ के पार चले जाने का अन्देशा है। हँसो यह जानकर कि इस ठण्ड में दिल्ली पुलिस ने कितनी झुग्गी-बस्तियाँ उजाड़ डालीं। न सिर्फ़ अरहर दाल की कीमत सौ रुपये किलो के ऊपर जा पहुँची है बल्कि प्याज, आलू, चावल, आटा सारी चीज़ों के भाव आसमान छू रहे हैं, हँसो। बाल्को की चिमनी गिरने से कितने मज़दूर मरे और चम्बल नदी पर बनते पुल के ढहने से कितने मरे, यह जानो और हँसो। हिन्दुस्तान में प्रति मिनट कितनी स्त्रियों के साथ बलात्कार होता है और कितनी जलायी जाती हैं, पता लगाओ और हँसो। प्रति वर्ष जगही-ज़मीन से उपड़ने वालों की संख्या का पता लगाओ और हँसो। पचास-साठ रुपये पर खटने वाले दिहाड़ी मज़दूरों के काम के घण्टों और हालात का पता लगाओ और हँसो। हँसो कि हँसने के लिए मसाले बहुत हैं। अर्चना पूरन सिंह, नवजोत सिंह सिद्धू को देखो, कितना मुँह फाड़कर हँस रहे हैं। सोनिया गाँधी, मनमोहन सिंह, चिदम्बरम, आडवाणी मुस्कराहट और हल्की हँसी से काम चला लेते हैं। वे बड़े लोग हैं। तुम मामूली आदमी हो, इसलिए पुक्का फाड़कर हँसो। तुम्हारे लिए अरबों की लागत से हँसी का इतना बड़ा बाज़ार लगा है। हँसो। हँसने से तुम्हारा ब्लड प्रेशर नीचे आयेगा, चैनलों की टी.आर.पी. रेटिंग ऊपर हो जाएगी। कर भला, हो भला।

इतना हँसो कि सोचने के लिए न समय बचे, न दिमाग़। आँखें भींचकर हँसो ताकि आसपास की कोई चीज़ दिखायी न दे। टी.वी. पर हँसी-ख़ुशी है। टी.वी. कार्यक्रमों की समीक्षा लिखते हुए सुधीश पचौरी भाषा से खिलन्दड़ापन करते हुए हँस रहे हैं। उनकी भाषा भी हँस रही है। सामसुंग के सहकार से टैगोर साहित्य पुरस्कार देने की घोषणा करते हुए साहित्य अकादमी का चेयरमैन और सामसुंग का नुमाइन्दा हँस रहे हैं।

टी.वी. से लगता है पूरा देश हँस रहा है। लेकिन बीस रुपये रोज़ के नीचे जीने वाले 84 करोड़ लोग, और उनमें से भी ख़ासकर ग्यारह रुपये रोज़ पर जीने वाले 27 करोड़ लोग पता नहीं कैसे और कितना हँस पा रहे होंगे! 25 करोड़ बेरोज़गार कितना हँस पा रहे होंगे! कुपोषण और भूख के शिकार करोड़ों बच्चों की माँएँ कितना हँस पा रही होंगी! पर ऊपर के जिन पन्द्रह करोड़ लोगों के लिए सारी चीज़ों का हँसता हुआ बाज़ार है, वे खा रहे हैं और हँस रहे हैं। पाद रहे हैं और हँस रहे हैं। कभी-कभी शेयर के भाव गिरने से उनका ब्लड प्रेशर चढ़ जाता है तो उनकी हँसी रुक जाती है। फिर वे 'लाफ़्टर योगा' करने लगते हैं और ज़बरदस्ती हँसने लगते हैं। जो नीचे के लोग हैं, वे भी कभी-कभी तनाव और मुसीबतों का बोझ हल्का करने को हँस लेते हैं। पर उतना नहीं, जितना हँसने के लिए टी.वी. कह रहा है। उन्हें हँसी खरीदनी नहीं पड़ती। इसलिए उन्हें हँसी के बाज़ार की ज़रूरत नहीं। एक बीच वाला आदमी है, जो न नीचे वाले की तरह हँस पाता है, न ऊपर वाले की तरह। वह टी.वी. की हँसी से संक्रमित होकर हँसना चाहता है, तबतक उसका ध्यान अपनी सस्ती पुरानी टी.वी. पर और फिर आसपास की चीज़ों पर चला जाता है और उसकी हँसी घुट जाती है। वह लाफ़्टर क्लब वालों के बीच जाकर हँसना चाहता है, पर उसमें शामिल बूढ़ों के लाल-लाल गाल देखकर कुण्ठित हो जाता है। सहसा उसका ध्यान जाता है कि उसके नहीं हँसने पर लोगों का ध्यान जा रहा है और

वह अजीब-अजीब आवाज़ें निकालता हुआ ज़बरदस्ती हँसने लगता है।

हाँ महोदय, अगर आप आम आदमी हैं और नहीं हँस रहे हैं तो इसका मतलब यह है कि आप कुछ सोच रहे हैं। या फिर आप उनके साथ खड़े हैं जो चाहकर भी उतना और उस कदर नहीं हँस सकते, जिस तरह राजू श्रीवास्तव के चुटकुलों पर सिद्धू हँसते हैं। या आप उनमें से एक हैं जो ज़्यादा वजन और रक्तचाप की शिकायत नहीं होने के कारण 'लाफ़्टर योगा' की ज़रूरत और महत्ता नहीं समझते। इसलिए अगर आप नहीं हँस रहे हैं तो आपको एक ख़तरनाक या असामाजिक तत्त्व या नक्सली तक समझा जा सकता है। आपका 'एनकाउण्टर' तक हो सकता है। इसलिए हँसो, जैसाकि रघुवीर सहाय ने काफ़ी पहले ही आगाह करते हुए कह दिया था :

"हँसो हँसो जल्दी हँसो

हँसो तुम पर निगाह रखी जा रही है

हँसो अपने पर न हँसना क्योंकि उसकी कड़वाहट
पकड़ ली जायेगी
और तुम मारे जाओगे
ऐसे हँसो कि बहुत ख़ुश न मालूम हो
वरना शक होगा कि यह शख़्स शर्म में शामिल नहीं
और मारे जाओगे

हँसते-हँसते किसी को जानने मत दो किस पर हँसते हो
सब को मानने दो कि तुम सब की तरह परास्त होकर
एक अपनापे की हँसी हँसते हो
जैसे सब हँसते हैं बोलने के बजाय

जितनी देर ऊँचा गोल गुम्बद गूँजता रहे, उतनी देर
तुम बोल सकते हो अपने से
गूँज थमते-थमते फिर हँसना
क्योंकि तुम चुप मिले तो प्रतिवाद के जुर्म में फँसे
अन्त में हँसे तो तुम पर सब हँसेंगे
और तुम बच जाओगे

हँसो पर चुटकुलों से बचो
उनमें शब्द हैं
कहीं उनमें वे अर्थ न हो
जो किसी ने सौ साल पहले दिये हों

बेहतर है कि जब कोई बात करो तब हँसो
ताकि किसी बात का कोई मतलब न रहे
और ऐसे मौक़ों पर हँसो
जो कि अनिवार्य हों
जैसे ग़रीब पर किसी ताक़तवर की मार
जहाँ कोई कुछ कर नहीं सकता
उस ग़रीब के सिवाय
और वह भी अक्सर हँसता है

हँसो हँसो जल्दी हँसो
इसके पहले कि वह चले जायें
उनसे हाथ मिलाते हुए
नज़रें नीची किए
उसको याद दिलाते हँसो
कि कल तुम भी हँसे थे।

कवि रघुवीर सहाय को बुर्जुआ समाज में हँसी की किस्मों के बारे में, उसकी आवश्यकता और विवशता के बारे में सबसे गहरी जानकारी थी। यदि आप निम्न मध्यवर्ग के सामान्य आदमी हैं और अध्ययन या कामकाज के लिए अकादमिक दुनिया, सांस्कृतिक दुनिया, मीडिया, एन.जी.ओ. के दफ़्तरों आदि में आपका आना जाना होता हो और वहाँ के स्वयं को सुसंस्कृत-संवेदनशील दिखाने वाले शक्तिशाली-प्रभावशाली अघाये लोगों की मण्डलियों-बैठकियों में कभी उठने-बैठने का अवसर मिल जाये तो रघुवीर सहाय की यह कविता आपको ज़रूर याद आयेगी :

निर्धन जनता का शोषण है
कहकर आप हँसे
लोकतन्त्र का अन्तिम क्षण है
कहकर आप हँसे
सबके सब भ्रष्टाचारी
कहकर आप हँसे
चारों ओर बड़ी लाचारी
कहकर आप हँसे
कितने आप सुरक्षित होंगे
मैं सोचने लगा
सहसा मुझे अकेला पाकर
फिर से आप हँसे

ऐसी ही एक बैठक में कई शीर्ष सरकारी अधिकारी कवि-लेखक; कुछ वरिष्ठ मीडियाकर्मी, कुछ प्रोफ़ेसर और कुछ एन.जी.ओ. चलाने वाले बैठकर स्कॉच की चुस्कियों के साथ देश के हालात पर बातचीत कर रहे थे। उनका मानना था कि इस देश में एक 'सोशल रिवोल्यूशन' बेहद ज़रूरी है। मुझे किसी कार्यवश उसमें घुस बैठने का अवसर मिला। लगातार मुझे रघुवीर सहाय की उपरोक्त कविता याद आती रही, सताती रही।

दिल्ली में जब भी कभी किसी भव्य सभागार में राजनीतिक-सामाजिक विषयों पर मन्थन के साथ चर्वण-भक्षण का समाँ दीखता है तो रघुवीर सहाय की एक और कविता बेसाख़्ता जेहन में घुसकर धमाचौकड़ी करने लगती है :

महासंघ का मोटा अध्यक्ष
धरा हुआ गद्दी पर खुजलाता है उपस्थ
सर नहीं,
हर सवाल का उत्तर देने से पेश्तर
बीस बड़े अख़बारों के प्रतिनिधि पूछें पचीस बार
क्या हुआ समाजवाद
कहें महासंघपति पचीस बार हम करेंगे विचार
आँख मारकर पचीस बार वह, हँसे वह, पचीस बार
हँसे बीस अख़बार
एक नयी ही तरह की हँसी यह है
पहले भारत में सामूहिक हास परिहास तो नहीं ही था।
जो आँख से आँख मिला हँस लेते थे
इसमें सब लोग दायें-बायें झाँकते हैं
और यह मुँह फाड़कर हँसी जाती है।
राष्ट्र को महासंघ का यह सन्देश है
जब मिलो तिवारी से - हँसो - क्योंकि तुम भी तिवारी हो
जब मिलो शर्मा से - हँसो - क्योंकि वह भी तिवारी है
जब मिलो मुसद्दी से
खिसियाओ
जातपाँत से परे
रिश्ता अटूट है
राष्ट्रीय झेंप का।

(नयी हँसी)

पाश की कविता के कुछ शब्दों को बदलकर मैं यूँ कहना चाहूँगा : 'सबसे ख़तरनाक होता है विचारहीन हँसी का होना।' यदि आप विचारहीन हँसी हँसते हैं तो आप अपने परिवेश से असम्पृक्त एक नितान्त आत्मकेन्द्रित और स्वेच्छाचारी प्रकृति के व्यक्ति हैं। जहाँ तक आपकी औक़ात होगी, आप तानाशाही करेंगे और तानाशाह की सत्ता को खुशी-खुशी स्वीकार करेंगे। इसलिए मेरे भाई, हँसो। हँसना तो मानवीय गुण है। पर एक विचारहीन हँसी मत हँसो। विचारहीन हँसी निरंकुश स्वेच्छाचारिता की उपस्थिति का, या फिर अपनी ही नियति से अपरिचित शुतुरमुर्गी प्रवृत्ति का अहसास दिलाती है। विचारहीन हँसी डराती है, जैसा कि कात्यायनी की यह कविता बताती है:

हमारे-आपके जैसे ही लोग थे
वे
जो हँस रहे थे।
वैसे भी कहाँ हँसना हो पाता है
इन दिनों
इस तरह एक साथ।
वे हँस रहे थे
तो
हमें भी हँसना चाहिए था
या
कम से कम खुश होना चाहिए था
कि
वे हँस रहे थे।
पर डरा रहे थे
वे
झुरझुरी-सी हो रही थी
रीढ़ की हड्डी में।
वहाँ से हटने पर भी
एक गहरी उदासी घेरे रही
आत्मा तक को सँवलाती हुई
बीच-बीच में
गुस्सा बेहिसाब।
चिन्ता निरुपाय।
याद करके भी वह दृश्य
कँपकँपी छूट जाती थी
कि
वे हँस रहे थे
और
हँसते हुए उनकी आँखें नहीं थीं।

(उनका हँसना)

हँसी के पीछे यदि दृष्टि हो, यदि आप व्यवस्था की विसंगतियों-क्रूरताओं और बुर्जुआ समाज में आम आदमी की त्रासद नियति तो कलात्मक सृजन की दुनिया में हँसी एक हथियार हो सकती है। जैसे चार्ली चैप्लिन की 'गोल्ड रश,' 'मॉडर्न टाइम्स,' और 'द ग्रेट डिक्टेटर' जैसी फ़िल्में। सत्ताधारी की खिल्ली उड़ाते हुए हँसना साहस का परिचायक है। अपनी त्रासद नियति पर, बिना दयनीय बने हँसना, विवेक का परिचायक है। यह हमें सोचने की उन्नततर मंज़िल में जाने को प्रेरित करता है। यह 'कैथार्सिस' की मन:स्थिति बनाता है।

विचारहीन हँसी का अतिरेक हमें नंगा राजा* के जानिब शासन को स्वीकारने के लिए तैयार करता है। यह हर्बर्मस (हेजेमनी) की राजनीति का एक सांस्कृतिक हथकण्डा है। किसी दिन जब कोई बच्चे जैसी सादगी के साथ राजा को नंगा बताते हुए हँस पड़ेगा तो सारे लोग हँस पड़ेंगे और राजा को इतना गुदगुदायेंगे कि राजा हँसते-हँसते मर जायेगा। यह भी हँसी का एक रूप है। ऐसा पीढ़ियों बाद हुआ करता है। लेकिन इसकी कल्पनामात्र से वे डरते हैं जो आम लोगों को विचारहीन हँसी हँसाते रहने के लिए आज हँसी का सार्वभौमिक बाज़ार बनाते हैं और अपनी चाल को सफल होते देख आम लोगों पर हँसते हैं।

---

* देखें, 'नंगा राजा' कहानी, इसी अंक में पृष्ठ 38 पर

नंगा राजा

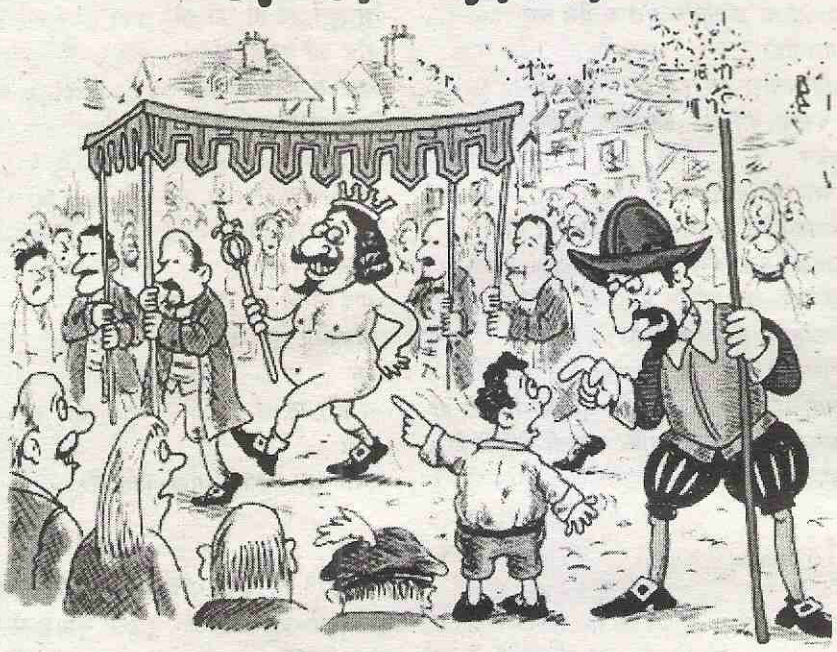

बहुत से लोगों ने नये-नये कपड़े पहनने के शौक़ीन उस राजा के बारे में हैन्स एण्डर्सन की कहानी पढ़ी होगी जिसे एक बार दो ठगों ने उल्लू बना दिया था। उन ठगों ने यह दावा किया कि वे राजा के लिए ऐसी सुन्दर पोशाक़ तैयार करेंगे जैसी कि कोई सपने में भी नहीं सोच सकता। पर सबसे बड़ी ख़ूबी उसमें यह होगी कि वह पोशाक़ किसी मूर्ख व्यक्ति या अपने पद के लिए अयोग्य व्यक्ति को दिखायी नहीं देगी। राजा ने तुरन्त अपने लिए ऐसी पोशाक़ बनाने को आदेश दे दिया और दोनों ठग बुनने, काटने और सिलने का अभिनय करने में जुट गये। राजा ने कई बार अपने मन्त्रियों को काम की रफ़्तार देखने के लिए भेजा और हर बार उन्होंने उसे बताया कि वे अपनी आँखों से नये वस्त्रों को देखकर आ रहे हैं और वे वाकई बेहद ख़ूबसूरत हैं। दरअसल, राजा के मन्त्रियों ने कुछ भी नहीं देखा था, पर वे मूर्ख कहलाना नहीं चाहते थे और उससे भी बढ़कर अपने पदों के लिए अयोग्य घोषित किया जाना तो नहीं ही चाहते थे।

राजा ने तय किया कि जिस दिन नयी पोशाक़ तैयार हो जायेगी, उस दिन एक भव्य समारोह होगा और राजा नयी पोशाक़ पहनकर नगर में निकलेगा। राज्यभर में इसकी मुनादी करवा दी गयी।

जब वह दिन आया तो ठगों ने राजा के सारे कपड़े उतरवा दिये। फिर वे देर तक उसे नये परिधान में सजाने-धजाने का अभिनय करते रहे। राजा के दरबारियों और नौकर-चाकरों ने एक स्वर में उसकी तारीफ़ों के पुल बाँधने शुरू कर दिये क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि वे मूर्ख कहलायें या अपने पदों के लिए अयोग्य घोषित कर दिये जायें। राजा ने सन्तुष्ट भाव से सर हिलाया और नंगधड़ंग बाहर चल पड़ा।

रास्ते के दोनों तरफ़ खड़े लोग भी मूर्ख कहलाना नहीं चाहते थे। वे सब के सब राजा की नयी पोशाक़ की इस तरह से प्रशंसा कर रहे थे जैसे वे उसे साफ़-साफ़ देख रहे हों। लेकिन तभी एक बच्चा बड़ी मासूमियत से बोल पड़ा, "अरे, उस आदमी ने तो कुछ पहना ही नहीं है!"

भीड़ के कानों में यह बात पड़ते ही चारों तरफ़ फैल गयी और जल्दी ही हर आदमी हँस रहा था और चिल्ला रहा था: "अरे सच! राजा के बदन पर एक सूत भी नहीं है।" अचानक राजा की समझ में आया कि उसे धोखा दिया गया है। लेकिन अब तो खेल शुरू हो चुका था और उसे बीच में रोकने का मतलब होता, और बेइज़्ज़ती। उसने तय किया कि वह इसे जारी रखेगा और सीना फुलाकर आगे चल दिया।

इसके बाद क्या हुआ? हैन्स एण्डर्सन ने इसके बारे में कुछ नहीं कहा है, लेकिन दरअसल इस कहानी में और भी बहुत कुछ हुआ था।

राजा अपने भव्य जुलूस के साथ आगे चलता रहा, मानो कुछ हुआ ही न हो। और वह इतना अकड़कर चल रहा था कि उसके कन्धे और रीढ़ की हड्डी तक दुखने लगे। उसकी अदृश्य पोशाक़ के पिछले भाग को उठाकर चलने का अभिनय कर रहे सेवक बड़ी मुश्किल से अपने होंठ चबा-चबाकर हँसी रोक रहे थे क्योंकि वे मूर्ख कहलाना नहीं चाहते थे। अंगरक्षक

अपनी निगाहें जमीन पर गड़ाये हुए चल रहे थे क्योंकि अगर किसी एक की भी नज़र अपने साथी से मिल जाती तो उसके मुँह से जरूर हँसी फूट पड़ती।

लेकिन जनता तो ज़्यादा स्पष्टवादी होती है। उसे अपने होंठ काटने और निगाहें ज़मीन पर गड़ाये रखने की कोई वजह समझ में नहीं आयी। इसलिए जब एक बार यह नंगी सच्चाई उजागर हो गयी कि राजा कुछ नहीं पहने है, तो वे ज़ोर-ज़ोर से ठहाके लगाकर हँसने लगे।

"अच्छा राजा है यह तो, नंगधड़ंग चला जा रहा है," एक ने खिलखिलाते हुए कहा।

"ज़रूर इसकी अकल घास चरने चली गयी है," दूसरे ने कहकहा लगाया।

"थुलथुल, बदसूरत कीड़ा," किसी ने फब्ती कसी।

"उसके कन्धे और टांगें देखे, जैसे पंख नुची हुई मुर्गी," चौथे आदमी ने ताना मारा।

इन फ़ब्तियों से राजा का गुस्सा भड़क उठा। उसने जुलूस रोक दिया और अपने मन्त्रियों को डपटा, "सुना तुमने, इन मूर्खों और देशद्रोहियों की जुबान बहुत चलने लगी है। तुम लोग रोकते क्यों नहीं उन्हें? मेरे नये वस्त्र बहुत ठाठदार हैं और इन्हें पहनने से मेरी राजसी आनबान बढ़ती है। तुम लोग खुद यह बात कह रहे थे। आज से मैं सिर्फ़ यही कपड़े पहनूँगा और दूसरा कुछ नहीं पहनूँगा। जो कोई यह कहने की हिम्मत करता है कि मैं नंगा हूँ, वह दुष्ट और ग़द्दार है। उसे फ़ौरन गिरफ़्तार करके मौत के घाट उतार दिया जाये। यह एक नया क़ानून है। इसकी घोषणा फ़ौरन कर दी जाये।"

राजा के मन्त्री तुरन्त भागदौड़ करने लगे। नगाड़े पीटकर प्रजा को इकट्ठा किया गया और मन्त्रियों ने पूरी ताक़त से चिल्ला-चिल्लाकर इस नये क़ानून की घोषणा कर दी। हँसना और फब्तियाँ कसना बन्द हो गया और राजा ने सन्तुष्ट होकर जुलूस को आगे बढ़ने का आदेश दिया।

लेकिन वह अभी थोड़ी ही दूर गया था कि ठहाकों और फ़ब्तियों की आवाजें उसके कानों में पटाखों की तरह गूँजने लगी।

"उसके बदन पर एक सूत भी नहीं है।"

"कैसा घिनौना पिलपिला बदन है।"

"उसकी तोंद देखो, जैसे सड़ा हुआ कद्दू!"

"उसके नये कपड़े वाक़ई कमाल के हैं!" हर ताने के साथ ज़ोरदार कहकहे लगते थे।

राजा फिर भड़क गया। उसने खा जाने वाली नज़रों से मन्त्रियों को घूरा और चिंघाड़ा, "इसे सुना तुमने!"

"हाँ महाराज, हमने सुना इसे," काँपते हुए मन्त्रियों ने जवाब दिया।

"क्या तुम भूल गये अभी-अभी मैंने क्या नया क़ानून बनाया है?"

राजा की बात पूरी होने का इन्तज़ार किये बिना मन्त्रियों ने सिपाहियों को आदेश दिया कि उन सबको गिरफ़्तार कर लायें जो हँस रहे थे या फ़ब्तियाँ कस रहे थे।

चारों तरफ़ भगदड़ मच गयी। सिपाही इधर से उधर दौड़ने लगे और भागने की कोशिश कर रहे लोगों को अपने बल्लमों से रोकने लगे। बहुत से लोग गिर पड़े, कुछ दूसरों के ऊपर से छलाँग मारकर भागने में सफल हो गये। फ़ब्तियों और हँसी की जगह चीख़ें और सिसकियाँ सुनाई पड़ने लगीं। क़रीब पचास लोग पकड़े गये और राजा ने उनको वहीं मार डालने का हुक्म दिया ताकि प्रजा समझ जाये कि उसके मुँह से निकली बात लौह क़ानून है और कोई उसका मज़ाक नहीं उड़ा सकता।

उस दिन के बाद से राजा ने कोई कपड़ा नहीं पहना। अन्त:पुर से लेकर दरबार तक, हर जगह वह नंगा ही जाता था और बीच-बीच में अपनी पोशाक़ की सिलवटें ठीक करने का अभिनय करता रहता था। उसकी रानियाँ और दरबारी शुरू-शुरू में उसे अपने बदसूरत पिलपिले शरीर के साथ घूमते और ऐसी हरक़तें करते देखकर मज़ा लेते थे, पर धीरे-धीरे वे ऐसा दिखावा करना सीख गये जैसे कोई बात ही न हो। वे इसके आदी हो गये और अब वे राजा को ऐसे ही देखते थे जैसे वह पूरी तरह कपड़े पहने हुए हो। रानियाँ और दरबारीगण इसके सिवा कुछ कर भी नहीं सकते थे, अन्यथा वे अपने पदों से और यहाँ तक कि अपनी जान से भी हाथ धो बैठते। लेकिन इतनी जीतोड़ कोशिशों के बावजूद एक पल की गफलत भी उनके सर्वनाश का कारण बन सकती थी।

एक दिन राजा की प्रिय रानी उसे खुश करने के लिए अपने हाथों से सुरापान करा रही थी। उसने लाल शराब का एक प्याला भरकर राजा के होठों से लगाया और खूब मीठे स्वर में बोली, "इसे पीजिये और ईश्वर करे कि आप हमेशा जीवित रहें।"

राजा इतना खुश हुआ कि उसने एक साँस में प्याला खाली कर दिया। लेकिन इसने शायद कुछ ज़्यादा ही जल्दी कर दी क्योंकि उसे खाँसी आ गयी और शराब उसकी छाती पर बह चली।

"अरे आपकी छाती पर धब्बा लग गया है," रानी बोल पड़ी।

"क्या, मेरी छाती पर!"

अपनी भूल का अनुभव करते ही राजा की प्रिय रानी का चेहरा पीला पड़ गया। "नहीं, आपकी छाती पर नहीं," उसने काँपते हुए स्वर में अपनी भूल सुधरी, "आपकी पोशाक़ पर धब्बा लग गया है।"

"तुमने कहा कि मेरी छाती पर धब्बा लग गया है। यह वही बात हुई कि मैं कुछ भी नहीं पहने हूँ। बेवकूफ़ कहीं की! तू दग़ाबाज़ है और तूने मेरा क़ानून तोड़ा है!" इतना कहने के साथ ही राजा चिल्लाया, "ले जाओ इसे जल्लाद के पास।" और उसके सिपाही रानी को घसीट ले गये।

राजा का एक बहुत विद्वान मन्त्री भी राजा की सनक का शिकार हुआ। हालाँकि उसने भी सबकुछ अनदेखा करने की आदत डाल ली थी, लेकिन उसे भरे दरबार में एक ऐसे आदमी को राजा कहने में शर्म आती थी, जो गद्दी पर बिलकुल नंगा

बैठता था। मन ही मन वह उसे 'गंजा बन्दर' कहता था। वह डरता था कि यदि किसी दिन उसके मुँह से असावधानीवश कोई बात निकल गयी या वह किसी ग़लत मौक़े पर हँस पड़ा तो उसकी बरबादी निश्चित है। इसलिए उसने अपनी बूढ़ी माँ को देखने घर जाने के बहाने से राजा से छुट्टी माँगी।

राजा ने कहा कि, "मैं किसी मातृभक्त बेटे की प्रार्थना भला कैसे ठुकरा सकता हूँ।" और उसे जाने की छुट्टी दे दी। मन्त्री को उस समय ऐसा महसूस हो रहा था जैसे उसे मोटी-मोटी ज़ंजीरों से मुक्ति मिल गयी हो। उसने राहत की साँस ली और उसके मुँह से धीरे से निकल गया, "भगवान का लाख-लाख शुक्र है, अब मुझे उस नंगे राजा की ओर देखना नहीं पड़ेगा।"

राजा के कान में भनक पड़ी तो उसने अपने सेवकों से पूछा, "क्या कहा उसने?" सेवक हड़बड़ी में कोई बात बना नहीं पाये और उन्होंने उसे पूरी बात बता दी।

"अच्छा तो तुमने इसलिए छुट्टी माँगी थी क्योंकि तुम मुझे देखना बरदाश्त नहीं कर सकते," राजा चिल्लाया। "तुमने मेरा क़ानून तोड़ा है। अब देखो मैं ऐसा इन्तज़ाम करता हूँ कि तुम घर पहुँच ही न पाओ।" इसके बाद उसने अपने जल्लादों को हुक्म दिया कि वे मन्त्री को ले जायें और उसकी गरदन उड़ा दें।

इन घटनाओं के बाद अन्तःपुर और दरबार में हर आदमी और ज़्यादा चौकन्ना हो गया। लेकिन आम जनता ने तो रानियों और दरबारियों जैसी चालाकी नहीं सीखी थी। जब भी राजा लोगों के सामने आता था और वे उसके ढोंग को और उसके भद्दे शरीर को देखते थे, वे हँसी रोक नहीं पाते थे। इसके बाद ख़ूनी हत्याओं का सिलसिला शुरू हो जाता था। एक दिन जब राजा मन्दिर में यज्ञ करने के लिए गया तो उसके सिपाहियों ने तीन सौ लोगों को जल्लाद के हवाले किया। जिस दिन वह अपने सैनिकों का मुआयना करने निकला उस दिन पाँच सौ लोग मौत के घाट उतारे गये, और एक दिन जब वह राज्य के शाही दौरे पर निकला तो राज्य भर में हजारों लोग मारे गये।

एक दयालु बूढ़े मन्त्री ने सोचा कि राजा हद से बाहर जा रहा है और अब यह सब बन्द होना चाहिए। लेकिन राजा यह कभी नहीं मानता कि वह ग़लत है। उससे उसकी ग़लती बताना अपने गले में फन्दा डालने के समान था। बूढ़े मन्त्री ने सोचा कि अगर किसी तरह से राजा को फिर से कपड़े पहना दिये जायें तो जनता की हँसी और फ़ब्तियाँ रुक जायेंगी और लोगों की जान बचेगी। कई रातों तक जाग-जागकर वह सोचता रहा कि क्या करे जिससे साँप भी मर जाये और लाठी भी न टूटे।

आख़िर उसे एक योजना सूझी और वह राजा के पास गया। उसने कहा, "मेरे मालिक! आपके एक वफ़ादार सेवक के नाते मैं आपको एक सुझाव देना चाहता हूँ। आप हमेशा नये-नये कपड़ों के शौक़ीन रहे हैं क्योंकि उनसे आपकी शानशौक़त को चार चाँद लग जाते हैं। लेकिन इधर बहुत दिनों से आप राज्य के मामलों में इतने व्यस्त रहे हैं कि आपको नये कपड़ों का ध्यान ही नहीं रहा है। जो पोशाक़ आपने पहनी हुई है, उसका रंग फीका पड़ रहा है। आप अपने दर्जियों को आदेश दीजिये कि वे आपके लिए एक नयी और शानदार पोशाक़ बनाकर तैयार करें।

"क्या कहा, मेरी पोशाक़ का रंग फीका पड़ रहा है?" उसने अपने शरीर पर हाथ फिराते हुए कहा। "बकवास! ये जादुई पोशाक़ है। इसका रंग कभी फीका नहीं पड़ सकता। तुमने सुना नहीं, मैंने कहा था कि अब मैं इसके सिवा और कुछ नहीं पहनूँगा। तुम चाहते हो कि मैं इसे उतार दूँ, ताकि मैं भद्दा दिखूँ! चलो, तुम्हारी उम्र और तुम्हारी पिछली सेवाओं का ख़्याल करके तुम्हारी जान बख़्श दे रहा हूँ, लेकिन तुम्हारी बाक़ी ज़िन्दगी अब जेल में कटेगी।"

सैकड़ों निर्दोषों को प्राणदण्ड देने का क्रम चलता रहा। उल्टे, लोगों की हँसी बन्द न होने से राजा एकदम तुनक गया और उसने और भी ज़्यादा कड़ा क़ानून बना दिया। इस बार उसने फ़रमान जारी कर दिया कि जब राजा सड़क पर निकले उस वक़्त कहीं से किसी आदमी की किसी भी तरह की आवाज़ नहीं आनी चाहिये। अगर किसी ने कोई आवाज़ निकाली तो उसे हाथी से कुचलवा दिया जायेगा।

इस क़ानून की घोषणा के बाद राज्यभर के गणमान्य नागरिक सोचने लगे कि अब तो राजा अति कर रहा है। ठीक है कि राजा की हँसी उड़ाना अच्छी बात नहीं है, लेकिन दूसरी चीज़ों के बारे में बात करने पर क्यों प्राणदण्ड दिया जाये? वे सब जुलूस बनाकर राजा के यहाँ गये और राजमहल के बाहर घुटनों के बल झुककर बोलो कि वे राजा को एक अर्ज़ी देने आये हैं।

घबराया हुआ राजा बाहर आया और गरजकर बोला, "तुम लोग यहाँ क्या करने आये हो? बग़ावत करना चाहते हो?"

गणमान्य नागरिकों ने अपने सर उठाने की जुर्रत किये बिना जल्दी से जवाब दिया, "नहीं, नहीं महाराज, आप हमें ग़लत समझ बैठे हैं। हम ऐसा कुछ नहीं करने जा रहे हैं।" राहत महसूस करते हुए राजा ने शान से अपनी अदृश्य पोशाक़ की सलवटें ठीक कीं और पहले से भी ज़्यादा कड़ी आवाज में बोला, "फिर तुम लोग इतनी भीड़ बनाकर यहाँ क्यों आये हो?"

"हम महाराज से प्रार्थना करने आये हैं कि हमारी हँसने-बोलने की आज़ादी लौटा दी जाये। जो आप पर कीचड़ उछालते हैं और हँसी उड़ाते हैं, वे दुष्ट लोग हैं और उनको ज़रूर मार डालना चाहिए। मगर हम सब लोग राजभक्त, ईमानदार नागरिक हैं, हम आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप अपना नया क़ानून वापस ले लें।"

"आज़ादी? और तुम लोगों को? अगर तुम आज़ादी चाहते हो तो मेरी प्रजा नहीं रह सकते। अगर तुम मेरी प्रजा रहना चाहते हो तो मेरे क़ानूनों को मानना पड़ेगा। और मेरे क़ानून लोहे जैसे सख़्त हैं। उन्हें मैं वापस ले लूँ? कभी नहीं!" - इतना कहने के साथ ही राजा पलटा और अपने महल में चला गया।

नागरिकों को इससे आगे कहने की हिम्मत नहीं हुई। डरते-डरते उन्होंने धीरे से सर उठाया और देखा कि राजा जा चुका है। अब वे वापस घर लौटने के सिवा कुछ नहीं कर सकते थे। इसके बाद से लोगों ने एक नया तरीक़ा अपना लिया - जब राजा बाहर आता था, तब वे बन्द दरवाजों के पीछे अपने घरों में ही क़ैद रहते थे, सड़कों पर झाँकते तक नहीं थे।

एक दिन राजा अपने मन्त्रियों और अंगरक्षकों के साथ महल से बाहर अपनी आरामगाह के लिए चला। सारी सड़कें सूनी पड़ी थीं और दोनों तरफ़ घरों के दरवाजे बन्द थे। जो अकेली आवाज़ उन्हें सुनायी दे रही थी वह उनके अपने पैरों की पदचाप थी, जैसे रात के सन्नाटे में कोई सेना मार्च कर रही हो।

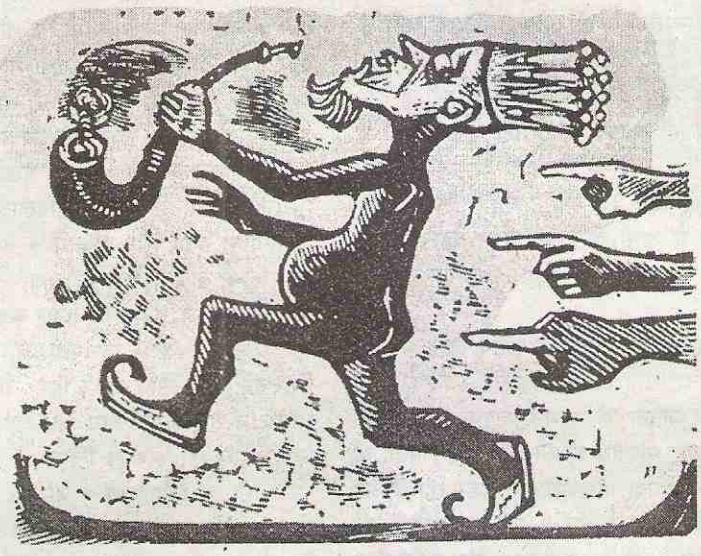

तभी अचानक राजा थम गया और कान खड़े करते हुए अपने मन्त्रियों पर गरजा, "सुन रहे हो ये आवाज़?" मन्त्रियों ने भी सुनने के लिए कान लगा दिये।

"हाँ, एक बच्चा रो रहा है," एक बोला।

"एक औरत गा रही है," दूसरे ने बताया।

"वह आदमी ज़रूर नशे में धुत्त होगा, बदमाश कहीं का, खिलखिलाकर हँस रहा है," तीसरे मन्त्री ने कहा।

अपने मन्त्रियों को सारा मामला इतना हल्का बनाते देखकर राजा आगबबूला हो गया। "क्या तुम लोग मेरा नया क़ानून भूल गये हो?" - वह पूरी ताक़त से चिंग्घाड़ा। गुस्से के मारे उसकी आँखें बाहर निकली पड़ रही थीं और उसका थुलथुल सीना धौंकनी की तरह चल रहा था।

मन्त्रियों ने तुरन्त सिपाहियों को हुक्म दिया कि घरों में घुस जायें और जिस किसी ने भी कोई भी आवाज़ निकाली हो - चाहे वह बूढ़ा, जवान, मर्द, औरत कोई भी हो - उसे पकड़ लायें और जल्लाद के हवाले कर दें।

लेकिन तभी ऐसी घटना घटी जिसकी राजा ने सपने में भी आशा नहीं की थी। जब सिपाहियों ने घरों के दरवाज़े तोड़े तो औरतों, पुरुषों और बच्चों का हुजूम बाहर उमड़ पड़ा। वे राजा की ओर झपटे और हाथों को बाज़ के पंजों की तरह ताने हुए उसके शरीर पर टूट पड़े। वे चिल्ला रहे थे, "नोच डालो! इसकी ख़ूनी पोशाक़ को नोच डालो!"

आदमियों ने राजा की बाँहें पकड़कर मरोड़ दीं। औरतें उसकी छाती और पीठ पर मुक्के बरसा रही थीं। दो छोटे बच्चे उसकी बाँहों के नीचे और पेट में गुदगुदी मचा रहे थे। चारों तरफ़ से घिर चुके राजा को भागने का कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। उसने अपना सिर घुटनों में छिपा लिया और गिलहरी की तरह गुड़ीमुड़ी हो गया, लेकिन सब बेकार। उसकी बगलों में मच रही भयानक गुदगुदी और उसके पूरे बदन में हो रही जलन उसकी बरदाश्त के बाहर हो रहे थे। वह किसी भी तरह इस मुसीबत से छुटकारा नहीं पा सकता था। उसने अपना सिर कंधें में दुबका लिया और उसके मुँह से क्रोध, भय और हैरानी की मिलीजुली ध्वनियाँ निकलने लगीं। उसके भृकुटि तानने और उन्हें डराने-धमकाने के प्रयासों को देखकर लोगों का हँसी के मारे बुरा हाल हो गया।

लोगों के घरों से निकलते हुए सिपाहियों ने देखा कि राजा कितना मज़ाकिया लग रहा था - जैसे क्रुद्ध बर्रों से घिरा बन्दर - तो वे भूल गये कि उन्हें उसके प्रति सम्मान दिखाना चाहिए और वे भी सबके साथ हँसी में शामिल हो गये। इसे देखकर पहले तो मन्त्रीगण डर गये, लेकिन फिर उन्होंने कनखी से राजा की ओर देखा और वे सब भी ठहाका मारकर हँस पड़े।

हँसते-हँसते दोहरे हुए जाते मन्त्रियों के दिमाग में अचानक यह बात आयी कि वे राजा का क़ानून तोड़ रहे हैं और उन्हें गिरफ़्तार किया जा सकता है। इसके पहले जब जनता राजा की खिल्ली उड़ाती थी तो मन्त्री ही उसे दण्ड दिया करते थे और अब वे खुद उस पर हँस रहे थे। तभी उन्होंने उसकी तरफ़ फिर ध्यान से देखा। उसके पूरे शरीर पर काले-काले चकत्ते पड़े हुए थे और वह गठरी बना हुआ ऐसा लग रहा था जैसे बरसात में भीगा हुआ मुर्ग़ी का बच्चा। उसे देखते ही हँसी छूट रही थी।

"क्या यह स्वाभाविक नहीं है कि लोग मज़ाकिया चीज़ों पर हँसें? लेकिन राजा ने तो क़ानून बनाकर लोगों के हँसने पर पाबन्दी लगा दी थी। क्या बेहूदा क़ानून है!" और मन्त्री भी लोगों के साथ मिलकर चिल्लाने लगे "नोच डालो! इसके झूठे कपड़ों को नोच डालो!"

जब राजा ने देखा कि उसके मन्त्री और सिपाही भी जनता से मिल गये हैं और अब वे उससे जरा भी खौफ़ नहीं खा रहे हैं तो उसे ऐसा धक्का लगा जैसे किसी ने उसके सिर पर भारी हथौड़ा दे मारा हो, और वह चारों खाने चित्त, धरती पर जा गिरा।

●

सामयिकी

फ़ौजी दमन से आहत कश्मीर

शोपियाँ प्रकरण: एक राष्ट्रीयता का कुचला जाता सम्मान

● प्रेमप्रकाश

अभी वही है निज़ामे कोहना, अभी तो जुल्मो-सितम वही है
अभी मैं किस तरह मुस्कराऊँ अभी तो रंजो-अलम वही है

अभी तो जम्हूरियत के साये में आमरीयत पनप रही है
हवस के हाथों में अब भी क़ानून का पुराना क़लम वही है

मैं कैसे मानूँ कि इन खुदाओं की बन्दगी का तिलिस्म टूटा
अभी वही पीरे-मैकदा है अभी तो शेखो-हरम वही है
– ख़लीलुर्रहमान आज़मी

अपने आपको सबसे बड़ा लोकतन्त्र कहने वाला भारतीय शासक वर्ग की धर्म निरपेक्षता और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की लफ़्फ़ाज़ी रोज़-ब-रोज़ जनता के सामने खुलकर आती है। भ्रष्टाचारी, भोगी-विलासी भारतीय शासक वर्ग अपने हितों के लिए किस तरह से मानवीयता की धज्जियाँ उड़ा रहा है यह छिपा नहीं है। देश के विभिन्न हिस्सों में जनान्दोलनों को कुचलने के लिए वह किसी भी हद तक जा सकता है। पूर्वोत्तर राज्यों और कश्मीर को तो उसने बर्बरतम और निर्ममतम फ़ौजी दमन के बूटों तले कुचल रखा है। शोपियाँ में दो महिलाओं के साथ सामूहिक बलात्कार एवं उसके बाद हत्या और उसके बाद शासन एवं सत्ता प्रतिष्ठानों द्वारा मामले की लीपापोती ने जनविरोधी राज्यसत्ता के चरित्र को और उजागर किया। साथ ही साथ कश्मीरी जनता के आक्रोश एवं घृणा को और अधिक मुखर रूप दिया।

घटना के प्रमाणों एवं तर्कों के आइने में शासन का चरित्र

विगत 29 मई को 17 वर्षीय आशिया जान और उसकी 22 वर्षीय भाभी नीलोफ़र को सामूहिक बलात्कार के बाद हत्या कर दी गयी। 22 वर्षीय नीलोफ़र 2 माह से गर्भवती थी। 29 मई को शाम 5 बजे ये दोनों घर से बाहर निकलीं और जब आठ बजे तक वापस नहीं आयीं तो घरवालों ने उन्हें ढूँढ़ना शुरू किया। पड़ोसियों द्वारा नीलोफ़र के पति शकील को बताया गया कि जब वे निकलीं तो उसी समय पेट्रोलिंग पार्टी उधर से गुज़री थी। सारी रात छानबीन के बाद सुबह 5 बजे नीलोफ़र का शव रम्बीआरा नाला के पास मिला जो सी.आर.पी.एफ़. कैम्प से कुछ ही दूरी पर था और आशिया के भाई जहूर ने शव को उठाया उसने बताया कि नीलोफ़र का शव पानी में था और उसके कपड़े फटे थे तथा गले के पास चोट के निशान थे जबकि आशिया के शव पर अधोवस्त्र नहीं थे और उसने उसे अपनी शर्ट से ढँका। पाशविकता की इन्तिहा यह थी कि गर्भवती नीलोफ़र को भी नहीं बख़्शा गया। शोपियाँ अस्पताल में तीन डॉक्टरों और मृतक महिलाओं के सम्बन्धियों के सामने पोस्टमार्टम हुआ और डॉक्टरों ने बलात्कार की बात की पुष्टि की। परन्तु बाद में एक हवलदार ने आकर डॉक्टरों से रिपोर्ट को नकारात्मक बनाने के लिए कहा। आशिया का भाई जहूर यह सुनकर अवाक रह गया और वह फ़ौरन बाहर आकर चिल्लाने लगा। बाहर खड़ी भीड़ और सैकड़ों बच्चे व महिलाएँ विरोध में नारे लगाने लगे और देखते ही देखते घटना ने एक जन विरोध का रूप ले लिया।

सैकड़ों महिलाओं बच्चों और नागरिकों के व्यापक विरोध के दबाव में पुलवामा के डॉक्टरों ने दूसरी बार पोस्टमार्टम किया जिसमें बलात्कार की पुष्टि हुई लेकिन पोस्टमार्टम रिपोर्ट हिंसा के निशान एवं चोट के चिन्हों को इन्कार करती है। ज्ञात है कि आशिया के भाई ने शरीर पर चोट के निशान की पुष्टि की थी। पोस्टमार्टम के समय एस.पी. जावेद इकबाल मट्टो भी मौजूद थे। सी.एम.ओ. पुलवामा के साथ पोस्टमार्टम टीम में शामिल महिला डॉक्टर जब बाहर आयी तो परिजनों ने उसे घेर लिया और सच्चाई बताने के लिए क़ुरान की कसम दिलायी। महिला डॉक्टर बुरी तरह से टूट गयी और उसने बताया कि दोनों के साथ कम से कम 15-18 व्यक्तियों ने बलात्कार किया। ज्ञात हो कि मामले के जनान्दोलन का रुख लेते ही साक्ष्यों एवं सबूतों को मिटाने की कोशिश शुरू हो गयी और सत्ता प्रतिष्ठान इसमें संलिप्त हो गया।

पुलिस अधिकारी मुहम्मद यासीन जो घटना की रात परिवार के साथ खोजी टीम में था ने बताया कि प्रवासी चरवाहे उस रात इलाक़े में थे परन्तु सुबह तक वे रहस्यमय तरीक़े से ग़ायब हो गये। यह अनायास ही नहीं हुआ होगा ऐसा लगता है कि वे घटना के गवाह थे और उन्हें बलात् जगह छोड़ने को कहा गया होगा। एस.पी. जावेद के तबादले एवं निलम्बन तक की नौटंकी और मामले के प्रति इरादतन लापरवाही यह दर्शाती है कि यह सब कुछ अनायास ही नहीं हो रहा है। दूसरी तरफ़ शुरुआत में पुलिस ने सी.आर.पी.सी. की धारा 174 के तहत

रिपोर्ट लिखी थी जिसके अनुसार पुलिस को आत्महत्या या हत्या के मामले की जाँच करनी होती है और बलात्कार व हत्या का मामला दर्ज नहीं किया गया। ज़ाहिर है, सत्ता के फ़ौजी दरिन्दों को पुलिस नहीं बचाएगी तो कौन बचाएगा?

कश्मीरी जनता के जम्हूरियत के प्रतिनिधि का दम्भ भरनेवाले मुख्यमन्त्री उमर अब्दुल्ला ने बेशर्मी की हद करते हुए यह बयान दिया कि प्राथमिक प्रमाण न तो बलात्कार और न ही हत्या की पुष्टि करते हैं। उमर साहब! जब परिवार के लोग चिल्ला-चिल्लाकर शरीर पर घाव के निशान, गर्दन पर गला घोंटने के निशान एवं खरोंच बता रहे हैं और घटना स्थल से शव को उठाने वाले आशिया के भाई जहूर बता रहे थे कि नीलोफर और आशिया और आशिया को उन्होंने अपनी शर्ट से ढँका तो इससे अधिक आपको कौनसा प्रमाण चाहिए? पोस्टमार्टम में शामिल महिला डॉक्टर ने अपने बयान में 15 से 18 लोगों द्वारा बलात्कार की बात स्वीकार की तो एफ़.आई.आर के लिए इससे अधिक कौन-से प्रमाण चाहिए थे? सच तो यह है कि कश्मीरी जनता की इज़्ज़त-आबरू और स्वाभिमान से उमर अब्दुल्ला जैसों का कोई वास्ता नहीं है। ऐसे लोग तो सत्ता और फ़ौज के इस खूनी खेल में शामिल व्यवस्था के अंगरक्षक हैं।

बार एशोसिएशन कश्मीर ने जनहित याचिका (पी.आई.एल) दाखिलकर धारा 376 (सामूहिक बलात्कार), धारा 302 (हत्या) के तहत मुक़दमा चलाने की माँग की। मामले की जाँच के लिए बार एसोसिशन नें 'फ़ैक्ट फ़ाइण्डिंग कमेटी' बनायी जो मामले के पहलुओं पर स्वतन्त्र जाँच करेगी। जन दबाव एवं पूरे कश्मीर में घटना के व्यापक रूप धारण करने के बाद मामले से जुड़े सैम्पल फोरेंसिक लैब को भेजे गए व सेवानिवृत्त जज मुजफ़्फर जन की अध्यक्षता में मामले की जाँच के लिए आयोग का गठन किया गया। अधिकारियों के बयान एवं सत्ता की जाँच रिपोर्ट तमाम ऐसे अनुत्तरित प्रश्न छोड़ती हैं जिससे किसी भी व्यक्ति के लिए इस मामले को लेकर शासन के रुख़ को समझना आसान होगा।

एक तरफ़ फोरेंसिक लैब की रिपोर्ट है जो सामूहिक बलात्कार की पुष्टि तो करती है परन्तु हत्या के कारणों के बारे में मौन है, तो दूसरी तरफ़ स्वास्थ्य अधिकारियों ने मामले की जो रिपोर्ट डी.जी.पी को सौंपी उसमें दोनों की मृत्यु डूबने या ज़हर खाने से बतायी गयी है। रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि 17 वर्षीय आशिया की मौत अत्यधिक यौन चोट एवं खून स्राव के कारण हुई जबकि गर्भवती नीलोफ़र की मौत का कारण मानसिक सदमा था। मामले की स्वतन्त्र छानबीन कर रही बार एसोसिएशन की फ़ैक्ट फ़ाइण्डिंग कमेटी की रिपोर्ट बताती है कि दोनों को जबरन उठाया गया, सामूहिक बलात्कार हुआ और हत्या की गयी या ऐसा भी हो सकता है कि हत्या के बाद सामूहिक बलात्कार किया गया हो। रिपोर्ट में यह भी बताया गया है कि एस.पी. शोपियाँ ने डॉक्टरों पर रिपोर्ट बदलने के लिए दबाव बनाया। एस.पी. शोपियाँ, एस.एच.ओ. शफीक अहमद व अस्पताल के डॉक्टर अपने कार्यों के निष्पादन में असफल रहे व साक्ष्यों के मिटाने के दोषी हैं।

जन आयोग के समक्ष एस.पी. ने जो बयान दिया उसमें उसने स्वीकारा कि जब सुबह 5:30 बजे उसे घटना की सूचना मिली तो वह अपने घर पर ही रहा। उसने अपराध की जगह पर न तो कोई गार्ड नियुक्त किया और न ही साक्ष्यों को जुटाने में किसी भूमिका का निर्वाह किया। एस.पी. जावेद मट्टो ने स्वीकार किया कि दोनों महिलाओं के शरीर पर हिंसा के निशान थे जबकि पोस्टमार्टम रिपोर्ट हिंसा के किसी चिन्ह के होने से इन्कार करती है। ज़ाहिर है कि दोषियों को बचाने का हरसम्भव प्रयास किया जा रहा था। दूसरी तरफ़ जन आयोग ने फ़ोरेंसिक लैब को रिपोर्ट भेजने में देरी करने का आरोप लगाया। क्या कारण था कि 2 जून को लैब की रिपोर्ट आने के बाद लैब ने 5 दिन तक रिपोर्ट को दबाकर रखा? मामला साफ़ है कि फ़ोरेंसिक लैब भी सत्ता प्रभाव से अछूता नहीं है और रिपोर्ट में देरी को मामले को दबाने की प्रक्रिया के अंग के रूप में देखा जा सकता है। जन आयोग की रिपोर्ट ने, नागरिक प्रशासन की लापरवाही, पुलिस और डाक्टरों को मामले को गलत तरीक़े से निपटारा, मामले से सम्बन्धित वृहद सबूतों को नष्ट करने का आरोप लगाया है।

मुजफ्फर जन आयोग की रिपोर्ट के बाद एस.पी. जावेद इकबाल, डी.एस.पी. रोहित, स्टेशन हाउस अफ़सर-शफीक अहमद, एस.आई.-गाजी अब्दुल करीम व फ़ोरेंसिक लैब के क़ानूनी प्रकोष्ठ के प्रमुख जावेद इक़बाल हफ़ीज़ को बर्ख़ास्त कर दिया गया।

इस प्रकरण के तुरन्त बाद से ही कश्मीर में चुनावी सियासत करने वाले सारे खिलाड़ियों को एक मुद्दा मिल गया। पी.डी.पी. की महबूबा मुफ़्ती सईद ने उमर अब्दुल्ला सरकार पर इस पूरे प्रकरण में दोषियों को बचाने का आरोप लगाया और जनान्दोलन की धमकी दी। कश्मीर भर में इस मामले को लेकर जनता में जो भयंकर आक्रोश था उसके चूल्हे पर रोटी सेंकने के लिए सारे चुनावी मदारी अपने-अपने तवे लेकर दौड़े। लेकिन कश्मीर की जनता यह भूली नहीं है कि सरकार चाहे किसी की भी रही हो, कश्मीर की जनता को ऐसे ही अमानवीय दमन और शोषण का सामना करना पड़ा है। कश्मीर की जनता का आक्रोश लावे की भाँति सड़कों पर बह रहा है। घटना की सूचना फैलते ही पूरी कश्मीर घाटी में स्वत:स्फूर्त विरोध शुरू हो गया। न्याय, आत्मनिर्णय का अधिकार, सेना हटाने की माँग के साथ लोग नारे लगाने लगे। पुलिस को आँसू गैस छोड़ने पड़े तथा शोपियाँ में 40 से अधिक लोग घायल हो गए। पुलवामा में हुए प्रदर्शन में 12 लोग व सोपोर में 25 लोग घायल हो गए। श्रीनगर में जनता और पुलिस में हुए झड़प में 80 लोग घायल हुए। पुलिस फ़ायरिंग में दो लोगों को गोलियाँ लगी हैं जिनकी हालत गम्भीर है। 22 वर्षीय निसार अहमद की आँसू गैस का गोला सिर पर लगने से मौत हो गयी। पुलिस एवं अर्धसैनिक बलों द्वारा पूरे कश्मीर में व्यापक स्तर पर सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को गिरफ़्तार किया गया और प्रताड़ित किया जा रहा है। 11 जून को सरकारी अर्द्धसरकारी कार्यालय के कर्मचारी व स्कूलों, कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों के छात्रों ने घटना को लेकर हुए

विरोध प्रदर्शन में भाग लिया। घाटी में इस घटना में हुए विरोध में 5 लोग मारे गए हैं और 400 से अधिक लोग घायल हुए। इसके बाद सी.बी.आई. ने अपनी जाँच के बाद कहा कि यह मामला हत्या या बलात्कार का नहीं है। आशिया और नीलोफ़र की मौत डूबने से हुई है। सी.बी.आई. ने सभी आरोपियों को दोषमुक्त किया और सुरक्षा बलों को पूरी तरह से निर्दोष ठहराया। इसी बात की उम्मीद भी थी। कश्मीरी जनता के दमन का मसला हो तो सरकार का शुरू से एक ही मन्त्र रहा है - 'किसी भी क़ीमत पर न्याय नहीं!' कुछ दिनों के ही भीतर सारे गवाहों को डरा-धमकाकर अपने बयान बदलने पर मजबूर कर दिया गया। और पिछले सभी जघन्य अपराध के मामलों की ही तरह इस मामले को भी रफा-दफा करने की कोशिश की जा रही है। लेकिन ज़ाहिर है कि कश्मीरी जनता की नफ़रत और भारतीय सत्ता के प्रति घृणा ऐसी हर घटना के साथ बढ़ रही है। प्रतिरोध का कोई और विकल्प न होने पर इस दमन के ख़िलाफ़ आक्रोशित जनता का एक हिस्सा धार्मिक कट्टरपन्थी आतंकवाद की ओर भी जा रहा है। समझा जा सकता है कि जिसकी माँ, बहन, बच्चों की हत्या या बलात्कार किया गया हो वह आतंकवादी रास्ते की तार्किकता के बारे में नहीं सोचेगा। वह पहले बदले के बारे में सोचेगा। ऐसे में उसे जो विकल्प सहज और सुलभ नज़र आएगा, वह उसे अपनाएगा।

यह विरोध, यह गुस्सा अनायास ही नहीं है और न ही यह एक दिन में उपजा है। इसके कारण कश्मीरी जनता के दशकों पुराने दमन और उनके विरुद्ध सत्ता के अन्यायपूर्ण रवैये में निहित हैं। इस इतिहास पर चर्चा अलग से एक लेख की माँग करती है। लेकिन अभी कुछ बातें समझने के लिए इतिहास की जानकारी नहीं बल्कि सामान्य बोध (कॉमन सेंस) की ज़रूरत है। एक तरफ़ बन्दूक़ों से लैस सुरक्षा बल ओर दूसरी तरफ़ विरोध में शामिल औरतें और बच्चे, छात्र और नागरिक जो यह जानते हैं कि किसी भी वक़्त पुलिस एवं सैनिक बल उन पर गोलियाँ चला सकते हैं। क्या इसे महज अलगाववाद और आतंकवाद का नाम दिया जा सकता है? क्या सारी कश्मीरी जनता आतंकवादी हो गयी है? क्या इसे महज धर्मान्ध इस्लाम का चोगा पहनाया जा सकता है? अगर नहीं, तो कश्मीरी जनता ऐसी क्यों है? और अगर पूरी कश्मीरी जनता वाक़ई आतंकवादी हो गयी है, तो सोचना होगा कि क्या कारण है? एक पूरी क़ौम आतंकवादी हो जाए तो सोचने की बात है कि सामान्य स्त्री, पुरुष, बच्चे, नौजवान, बुजुर्ग जो बस एक सम्मानजनक जीवन चाहते हैं, बन्दूक़ उठाकर सत्ता के ख़िलाफ़ क्यों उठ खड़े होते हैं?

फ़ौजी दमन, क़ानून और वर्तमान जीवन स्थितियाँ

कश्मीर में यह पहली बार नहीं हुआ है। फ़ौजी दमन की घटनाएँ, सामूहिक बलात्कार फ़र्जी एनकाउण्टर और नागरिक हत्याएँ - यह सब कश्मीरी जनता एक लम्बे समय से सहन कर रही है। लेकिन फ़ौजी अत्याचार का यह जुआ अब असहनीय हो गया है और यही वजह है कि विरोध का स्वर दिन प्रतिदिन हिंसक हो रहा है। जब ज़िन्दगी मौत से भी अधिक बोझिल हो जाती है तो सत्ता का ख़ौफ़ और संगीनें जनता की आवाज़ को नहीं दबा सकती। शासन के प्रति विरोध, कश्मीरी अवाम का आक्रोश, एक लम्बे समय में दमन की, शोषण की और गुलामी की ज़िन्दगी से छुटकारा पाने की तड़प है। दमन ने प्रतिरोध को हमेशा जन्म दिया है।

इस दमन के पैमाने को कुछ आँकड़ों से समझा जा सकता है। जनवरी 1989 से 30 जून, 2009 तक कश्मीर घाटी में सैनिक, अर्धसैनिक बलों व पुलिस ने हिंसा व दमन के अद्वितीय कीर्तिमान स्थापित किये हैं। 1989 से अब तक कश्मीर में 92,870 हत्यायें हुई हैं और ये हत्याएँ आतंकवाद के नाम पर हुई मासूमों की हत्याएँ हैं। पुलिस हिरासत मे हुई हत्याओं की संख्या अब तक 6959 है। 1989 से अब तक घाटी में 1,16,267 नागरिकों को गिरफ़्तार किया गया है। 1,05,751 रिहायशी ढाँचे नष्ट किये जा चुके हैं। 22,692 औरतें विधवा हो चुकी है। 1989 से आज तक 1,07,256 बच्चे अनाथ हो गए है। ये बच्चे किसी अलक़ायदा और हिजबुल के साथ जाते हैं तो इसके लिए भारतीय शासक वर्ग और फ़ौजी दमन जिम्मेवार है। सामूहिक बलात्कार के 9,876 मामले हुए। इस बेइन्तिहा जुल्म ने कश्मीरी जनता की ज़िन्दगी को मौत से भी बदतर बना दिया है। फ़ौजी शासन के लागू होने के बाद से कश्मीर में 70,000 लोग लापता हो चुके हैं। जून 2009 महीने में कुल 28 लोग मारे गए, 1,061 मामले पुलिस टॉर्चर एवं घायलों के आये, 59 नागरिक गिरफ़्तार किये गए। 46 संरचनाएँ नष्ट हुई और औरतों के सामूहिक बलात्कार व प्रताड़ना के 10 मामले सामने आये। ऐसा प्रताड़ित समाज अगर भारतीय राज्यसत्ता का विरोधी न हो तो क्या करे? वह अपनी आज़ादी की माँग न करे तो क्या करे? वह भारतीय फ़ौजी छावनियों को क्यों न उड़ा दे?

कश्मीरी जनता के आन्दोलन को दबाने के लिए जनविरोधी क़ानून बनाये गए हैं। 'जम्मू कश्मीर नागरिक सुरक्षा एक्ट-1978' एक ऐसा की क़ानून है। इस क़ानून द्वारा कश्मीरी नागरिकों को सुरक्षा के बजाय प्रताड़ना ही अधिक मिलती है। इस क़ानून की जड़ें ब्रिट्रिश हुकूमत द्वारा पारित 'भारत रक्षा अधिनियम' में हैं जिसे भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के लोगों और राष्ट्रीय नेताओं को दण्डित करने एवं दमन करने के उद्देश्य से बनाया गया था। महात्मा गाँधी और अनेक नेताओं ने इसे काले क़ानून की संज्ञा दी थी। पब्लिक सेफ्टी एक्ट-1987 (1987 एवं 1990 में संशोधित) राज्य को यह अधिकार देता है कि वह किसी भी व्यक्ति को बिना किसी ट्रायल के दो वर्ष तक बन्धक बना सकता है केवल यह कहते हुए कि यह क़ानून और व्यवस्था के लिए ज़रूरी है, पर ऐसा क्यों? इसको बताने की ज़रूरत नहीं महसूस करता है। क़ानूनी जानकारों का मानना है कि यह क़ानून अपनी मौजूदा स्वरूप में ब्रिट्रिश काल के 'डिफ़ेंस ऑफ इण्डिया एक्ट' से भी ज़्यादा जनविरोधी है क्योंकि यह न्याय के अधिकार से लोगों को वंचित रखता है। यह क़ानून के समक्ष समानता के अधिकार का (गिरफ़्तारी के 24 घंटे के अन्दर

आरोपी के मजिस्ट्रेट के सामने प्रस्तुत करने के अधिकार(फेयर ट्रायल इन पब्लिक, एक्सेस टू काउंसल, क्रॉस एक्सामिनेशन ऑफ़ दि विटनेस, अपील अगेंस्ट कनविक्शन आदि क़ानूनी अधिकारों का निषेध करता है। 'ह्यूमन राइट्स वाच' के अनुसार शबीर अहमद शाह जो कि शान्तिपूर्ण तरीक़े से कश्मीरी लोगों के आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए अभियान चला रहे हैं को अपने जीवन के 22 वर्ष जेल में काटने पड़े।

1990 में भारत सरकार ने क़ानून और सुरक्षा बनाये रखने के लिए सुरक्षा बलों को विशेष अधिकार देने के नाम पर 'सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) अधिनियम' लागू कर दिया। ग़ौरतलब है कि यह क़ानून सर्वप्रथम 1958 मे पूर्वोत्तर भारत में लागू हुआ था। और तबसे आजतक यह पूर्वोत्तर भारत और 1990 से कश्मीर में जनदमन के नये कीर्तिमान स्थापित कर रहा है। यह क़ानून लेह और कारगिल को छोड़कर सम्पूर्ण कश्मीर पर लागू है। यह क़ानून सशस्त्र सेना के किसी भी कमीशन अधिकारी, नॉन कमीशन या समतुल्य अधिकारी को यह अधिकार देता है कि यदि उस अधिकारी के विचार से क़ानून और व्यवस्था बनाये रखने कि लिए ज़रूरी है तो वह चेतावनी देकर किसी पर गोली चला सकता है, बलप्रयोग कर सकता है चाहे उससे उस व्यक्ति की मौत भी हो जाये तो कोई फ़र्क़ नहीं। ऐसे अधिकार का सेना ने कश्मीरी जनता की अस्मिता को रौंदने के लिए खूब इस्तेमाल किया और कश्मीरी जनता के भावनाओं और ज़िन्दगी से खिलवाड़ किया। यह क़ानून लुटेरों के हाथों में यह अधिकार देता है कि वह लोगों के घरों की तलाशी ले (क़ातिलों और ख़ूनियों को यह अधिकार देता है कि यह लोगों की भावनाओं, सम्पत्ति और आबरू को लूटे और विरोध करने पर हत्या कर दे और कहे कि आप राष्ट्रद्रोही हैं।

पूरे देश की तरह कश्मीर में भी मेहनतकश अवाम एवं मज़दूरों की जीवन स्थितियाँ बदतर हैं। खेती में उत्पादन में कमी आयी है। पश्मीना ऊन एवं तमाम ऐसे ही हैण्डीक्राफ्ट उद्योग तबाह हो गये हैं। अशान्ति के कारण पर्यटन जो कश्मीर की जीविका का प्रमुख अंग था लगभग ख़त्म हो चुका है। मेहनतकश अवाम का जीवन और दुरूह हो गया है। 1990 से अब तक लगभग साढ़े पाँच लाख लोगों ने हड़तालों में भाग लिया। 1990 में अध्यापकों और कर्मचारियों ने 72 दिन लम्बी हड़ताल की जिसमें 24,000 कर्मचारियों को सेवा से रोक दिया गया। इस हड़ताल में दैनिक मज़दूरी पाले वाले मज़दूर व छात्र भी शामिल थे। राज्य मशीनरी के ख़िलाफ़ आये दिन मेहनतकशों की हड़तालें एवं नागरिक विरोध आम हो गये हैं। वैश्विक पूँजी की मार एवं प्रशासन की दमनपूर्ण नीति के कारण कश्मीरी अवाम का जीवन कठिन होता जा रहा है। ज़ाहिर है कि कश्मीरी जनता को हर उस दमन का सामना तो करना पड़ता ही है जिसका सामना पूरे देश की आम मेहनतकश जनता को करना पड़ता है, लेकिन साथ ही उसे राष्ट्रीयता के दमन का सामना भी करना पड़ता है। कश्मीरी राष्ट्रीयता का दशकों से चला आ रहा यह दमन भारतीय पूँजीपति वर्ग की ज़रूरत है और इसके कारण इतिहास में निहित हैं। लेकिन यह अमानवीय दमन वही पैदा कर सकता जो इसने कश्मीर में पैदा किया है। इस दमन के बाद कश्मीरी जनता से आज्ञाकारी बर्ताव की उम्मीद उसमें दासवृत्ति पैदा करने की उम्मीद है। ऐसा न कभी हुआ है और न कभी होगा। जब तक नग्न सैन्य दमन के बूटों तले कश्मीरी जनता के स्वाभिमान को रौंदने की कोशिश जारी रहेगी, तब तक कश्मीरी जनता का प्रतिरोध किसी कारगर विकल्प की ग़ैर-मौजूदगी में धार्मिक कट्टरपन्थी आतंकवाद का पनपना जारी रहेगा। यह अपराध भारतीय पूँजीवाद का है। एक जनपक्षधर व्यवस्था ही दशकों से चले आ रहे इस खूनी विवाद का शान्तिपूर्ण और उचित निपटारा जनवाद और राष्ट्रों के आत्मनिर्णय के अधिकार के आधार पर कर सकती है।

तीन टके का उपन्यास

बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

इस उपन्यास में ब्रेष्ट पतनशील पूँजीवादी समाज में व्यापारिक पूँजीपति वर्ग की घोर अनैतिकता, लालच और उसके "राष्ट्रवाद" की असलियत को एकदम नंगे तौर पर उजागर कर देते हैं। ब्रेष्ट बहुत ही दिलचस्प और यर्थाथवादी तरीक़े से पूँजीवादी राष्ट्रवाद, पूँजीवादी नैतिकता, पूँजीवादी प्रेम, पूँजीवादी रिश्तों, पूँजीवादी संवेदनाओं, पूँजीवादी न्याय और पूँजीवादी मीडिया की वास्तविकता को सामने लाते हैं।

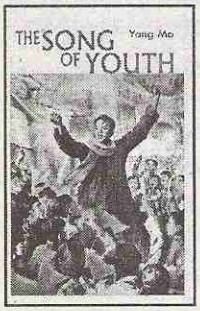

The Song of Youth
और
तरुणाई का तराना

"तरुणाई का तराना" कोई काव्यग्रन्थ नहीं, बल्कि चीन की क्रान्तिकारी लेखिका यांग मो की एक ऐसी औपन्यासिक कृति है जिसमें रचनाकार ने सड़कर बजाबजा रहे अर्द्धसामन्ती-अर्द्ध-औपनिवेशिक समाज की मुक्ति के लिए कर देते, अदम्य उत्साह और अकूत बलिदान का संकल्प के लिए संघर्ष का रहे नौजवान छात्र-छात्राओं की शौर्यगाथा का अत्यंत सजीव, प्रेरणादायी और रोचक वर्णन किया है।

प्राप्त करने के लिए संपर्क करें:
जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226020

नोबेल पुरस्कार

पूँजीवाद के तहत वैज्ञानिक मानवता के लिए नहीं बल्कि मुनाफ़े की सेवा करने के लिए अभिशप्त हैं

इस बार रसायनशास्त्र, भौतिकी और चिकित्सा का नोबेल पुरस्कार ऐसे वैज्ञानिकों को मिला है जिनकी खोजें मानवता के लिए बहुत लाभकारी हैं। रसायन का नोबेल पुरस्कार भारतीय मूल के अमेरिकी वैज्ञानिक वेंकटरमन रामकृष्णन, अमेरिका की येल यूनिवर्सिटी और हावर्ड ह्यूजेस मेडिकल इंस्टीट्यूट के टॉमस स्टाइट्ज़ और इज़रायल के वाइज़मान इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस की एडा योनाथ को दिया गया है। इन वैज्ञानिकों ने यह दर्शाया है कि राइबोसोम संरचना कैसी होती है और परमाणु के स्तर पर यह किस तरह काम करती है। राइबोसोम संरचना का पता लगाने के लिए, अलग-अलग काम कर रहे इन तीनों वैज्ञानिकों ने एक्सरे क्रिस्टलोग्राफी की तकनीक का प्रयोग किया और राइबोसोम में मौजूद लाखों परमाणुओं में से एक-एक परमाणु की स्थिति की मैपिंग की। जीवन की विभिन्न प्रक्रियाओं को वैज्ञानिक ढंग से समझने में मददगार होने के अलावा राइबोसोम संरचना के ज्ञान का चिकित्सा विज्ञान में बहुत अधिक उपयोग हो सकता है। अधिकांश एंटी बायोटिक दवाएँ रोग के बैक्टीरिया के राइबोसोम पर हमला करती हैं और इन वैज्ञानिकों की खोज के आधार पर अब ऐसी अधिक प्रभावी एंटी बायोटिक दवाओं का विकास सम्भव है जो म्यूटेशन के ज़रिए दवाओं के प्रतिरोधी रूप अख्तियार करने की बैक्टीरिया की क्षमता को ख़त्म कर सकती हैं।

भौतिकी का नोबेल पुरस्कार दो ऐसे वैज्ञानिकों को दिया गया है जिनकी उपलब्धियों ने संचार प्रौद्योगिकी में हुए ज़बर्दस्त विकास की नींव रखने के साथ ही चिकित्सा विज्ञान को भी जबर्दस्त लाभ पहुँचाया है। इस बार भौतिकी का नोबेल इंग्लैण्ड की स्टैण्डर्ड टेले कम्युनिकेशन लेबोरेटरी और हांगकांग की चाइनीज़ यूनिवर्सिटी के चार्ल्स काओ तथा अमेरिका की बेल लेबोरेटरीज़ के विलियर्ड बॉयल और जॉर्ज ई. स्मिथ को दिया गया है। काओ को ऑप्टिकल फ़ाइबर के विकास के लिए यह पुरस्कार दिया गया है। ऑप्टिकल फ़ाइबर काँच के महीन धागे होते हैं जो वर्तमान विश्वव्यापी संचार नेटवर्कों की रीढ़ का काम कर रहे हैं। आज दुनिया भर में डेटा, टेक्स्ट, ध्वनि, चित्रों और वीडियो की भारी मात्रा का आदान-प्रदान करने वाला वैश्विक ब्रॉडबैण्ड संचार तन्त्र इन्हीं ऑप्टिकल फ़ाइबर से बना है। एक अनुमान के अनुसार अगर दुनिया भर में फैले सारे फ़ाइबरों को जोड़ा जाये तो क़रीब एक अरब किलोमीटर लम्बा धागा बन जायेगा जिससे धरती को 25,000 बार लपेटा जा सकता है।

पुरस्कार का दूसरा भाग अमेरिका की बेल लेबोरेट्रीज़ के 85 वर्षीय लिलियर्ड एस. बॉयल और 79 वर्षीय जार्ज ई. स्मिथ को सीसीडी (चार्ज-कपल्ड डिवाइस) सेंसर का आविष्कार करने के लिए दिया गया है। सीसीडी डिजिटल कैमरे की इलेक्ट्रॉनिक आँख होती है जिसकी बदौलत न सिर्फ़ तस्वीरों की प्रोसेसिंग और इंटरनेट आदि के ज़रिये उनका वितरण बेहद आसान हो गया है बल्कि अन्तरिक्ष विज्ञान और चिकित्सा के क्षेत्र में भी इसका बहुत बड़ा योगदान है।

चिकित्सा का नोबेल पुरस्कार अमेरिका के तीन वैज्ञानिकों, एलिज़ाबेथ एच. ब्लैकबर्न, कैरोल डब्ल्यू. ग्राइडर और जैक डब्ल्यू. जोस्टैक को दिया गया है। इन तीनों ने कोशिका जीवविज्ञान की ऐसी समस्या को हल किया है जिससे कैंसर और बुढ़ापे को रोकने में मदद मिलेगी।

ये सभी वैज्ञानिक ऐसी खोजों के लिए पुरस्कृत किये गये हैं जो उत्पादक शक्तियों को उन्नत करने और रोग, कष्ट और अज्ञान से लड़ने में इन्सानियत के लिए मददगार हैं। आज भी दुनियाभर में हज़ारों ऐसे वैज्ञानिक हैं जो इन्सानियत की बेहतरी के लिए वैज्ञानिक अनुसन्धान और अध्ययन में जुट हुए हैं। आज से 50 वर्ष पहले की तुलना में आज दुनिया में प्रयोगशालाओं और अनुसन्धान केन्द्रों का विराट और अत्याधुनिक तन्त्र विकसित हो चुका है। आज के वैज्ञानिक मैरी और पियरे क्यूरी की तरह रिसती छत वाले सर्द सायबानों में शोध नहीं करते, बकि करोड़ों डॉलर के निवेश से खड़ी की गयी सर्वसुविधा सम्पन्न प्रयोगशालाओं में काम करते हैं जहाँ उनकी उँगलियों के इशारे पर दुनियाभर की वैज्ञानिक जानकारियाँ कम्प्यूटर के स्क्रीन पर हाज़िर हो जाती हैं। लेकिन यह तस्वीर का सिर्फ़ एक पहलू है। तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि आज भी दुनिया की क़रीब तीन-चौथाई आबादी दरिद्रता, अभाव और अज्ञान में जी रही है। एक ओर वैज्ञानिक मनुष्य के जीन की सम्पूर्ण मैपिंग करके रोगों के पैदा होने की जड़ तक पहुँच रहे हैं, दूसरी ओर एशिया, अफ़्रीका और लातिन अमेरिका में हर वर्ष लाखों बच्चे ऐसी मामूली बीमारियों से मर जाते हैं जिनका इलाज सौ साल पहले ढूँढ़ा जा चुका है। एक ओर इन्सान चाँद पर पानी के चिह्न ढूँढ़ रहा है, दूसरी ओर दिल्ली और मुम्बई जैसे महानगरों तक में लाखों लोग बीमारियों से युक्त बदबूदार, दूषित पानी पीने के लिए मजबूर हैं।

इस स्थिति का कारण यह है कि विज्ञान और तकनोलॉजी आज स्वतन्त्र नहीं हैं। वे मुनाफ़े के विश्वव्यापी क़ारोबार के गुलाम हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में होने वाले समस्त अनुसन्धानों पर दैत्याकार बहुराष्ट्रीय दवा कम्पनियों का नियन्त्रण है। केवल वही अनुसन्धान सफल हो पाते हैं जिन्हें ये दवा कम्पनियाँ अपना क़ारोबार और मुनाफ़े में उपयोगी पाती हैं। यही कारण

है कि चिकित्सा के क्षेत्र में होने वाले अनुसन्धान का बहुत भारी हिस्सा कॉस्मेटिक्स, बुढ़ापा रोकने या फ़िर ऐसे रोगों की महँगी दवाएँ विकसित करने में लगा हुआ है जो जीवनशैली सम्बन्धी रोग हैं तथा समाज के एक छोटे-से सम्पन्न हिस्से को प्रभावित करते हैं।

यही स्थिति विज्ञान की सभी शाखाओं की है। कम्प्यूटर और दूरसंचार उद्योग में हुए अभूतपूर्व विकास को ही लें जिसे "संचार क्रान्ति" बताया जा रहा है। एक अरब किलोमीटर से भी ज़्यादा लम्बे ऑप्टिकल फ़ाइबर नेटवर्क पर इण्टरनेट के ज़रिये आज बेहिसाब मात्रा में सूचनाओं का आदान-प्रदान हो रहा है। प्रतिदिन भेजे जाने वाले ईमेल की संख्या 210 अरब से अधिक हो चुकी है। लेकिन इस सूचना का तीन-चौथाई से भी अधिक हिस्सा निरर्थक और अनुत्पादक सूचनाओं का है। दूसरी ओर, दुनिया की बहुत बड़ी आबादी रोज़मर्रा के जीवन को बेहतर बनाने के लिए ज़रूरी बुनियादी सूचनाओं से भी वंचित है। दरअसल, विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास पूरी सामाजिक संरचना से अलग नहीं हो सकता। अगर उत्पादन के साधनों पर निजी मालिकाना है, और उत्पादन की सभी कार्रवाइयों की चालक शक्ति मुनाफ़ा है, तो विज्ञान और प्रौद्योगिकी को भी मुनाफ़े के क़ारोबार की ही सेवा में लगना होगा। पहले भी वैज्ञानिक आविष्कार तब तक बेकार रहते थे जब तक कि कोई व्यापारी या उद्योगपति उनसे मुनाफ़ा कमाने की सम्भावना नहीं देख लेता था। मगर पूँजीवाद के विकास की अवस्था में ऐसे तमाम आविष्कार मुनाफ़ा कमाने के साथ-साथ एक बहुत बड़ी आबादी के जीवन को बेहतर बनाने के भी काम आते थे। लेकिन आज की दुनिया में एकाधिकारी पूँजीवाद इस सीमा तक पहुँच चुका है कि अपने मुनाफ़े को बचाने के लिए ढेरों वैज्ञानिक खोजों को दबा दिया जाता है।

आज के वैज्ञानिक क्यूरी दंपति, आइंस्टीन या बोर जितने स्वतन्त्र नहीं हैं, उनकी हैसियत सीधे बड़ी पूँजी की सेवा में लगे कर्मचारियों जैसी रह गयी है। यहाँ तक कि यूरोप और अमेरिका की अधिकांश बड़ी प्रयोगशालाएँ सीधे बड़ी-बड़ी कम्पनियों द्वारा संचालित हैं। ज़्यादातर विश्वविद्यालयों और शोध संस्थानों की प्रयोगशालाएँ भी कम्पनियों द्वारा प्रायोजित परियोजनाओं पर पर काम करती हैं।

अब यह परिघटना भारत सहित तीसरी दुनिया के बड़े देशों में भी तेज़ी से बढ़ रही है जहाँ आईआईटी जैसे संस्थानों में कॉम्पैक और आईबीएम जैसी कम्पनियाँ अपनी प्रयोगशालाएँ स्थापित कर रही हैं जिनमें आईआईटी के शिक्षक और छात्र इन कम्पनियों का मुनाफ़ा बढ़ाने वाली नयी तकनीकों पर शोध करते हैं। चिकित्सा संस्थानों में भी ऐसा ही हो रहा है जहाँ दवा कम्पनियों द्वारा प्रायोजित शोध परियोजनाओं की संख्या बढ़ती जा रही है।

कम्पनियों द्वारा प्रायोजित शोध का उद्देश्य व्यापक मानवता का हित नहीं बल्कि अपना मुनाफ़ा बढ़ाना होता है। इसीलिए करोड़ों लोगों के लिए उपयोगी सस्ती जीवनरक्षक दवाएँ विकसित करने के बजाय छोटी-सी आबादी के लिए महँगी दवाएँ और उपकरण विकसित करने पर अधिक ज़ोर होता है। इतना ही नहीं, ऐसे असंख्य उदाहरण हैं, जब नये आविष्कारों को इसलिए हतोत्साहित किया गया और दबाया गया क्योंकि उनके बाज़ार में आ जाने से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का एकाधिकार टूट जाता और उनका मुनाफ़ा कम हो जाता। दैत्याकार कम्पनियाँ नये आविष्कारों के पेटेण्टों को ख़रीदकर अक्सर इसलिए दबा लेती हैं क्योंकि पहले से मौजूद प्रौद्योगिकी से अधिकतम मुनाफ़ा उन्हें मिल रहा है तो नया निवेश क्यों करें। दूसरी कम्पनियाँ उस आविष्कार का उपयोग न कर सकें इसलिए उसे ख़रीदकर ठण्डे बस्ते में डाल दिया जाता है। संयुक्त राष्ट्र वाणिज्य एवं व्यापार संगठन (अंकटाड) की एक रिपोर्ट के अनुसार दुनिया के कुल वैज्ञानिक पेटेण्टों के क़रीब 95 प्रतिशत पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का क़ब्ज़ा है।

बहुतेरे वैज्ञानिक और आविष्कारक इसलिए घुटते रहते हैं क्योंकि उन्हें मौलिक अनुसन्धान करने की कोई स्वतन्त्रता ही नहीं होती। पूँजीवादी व्यवस्था में ही ऐसा हो सकता है कि एक ओर व्यापक आबादी बुनियादी ज़रूरतों की चीज़ों से भी वंचित है और दूसरी ओर "अति उत्पादन" का संकट विश्वव्यापी मन्दी को जन्म दे रहा है। ऐसे में, उत्पादन की मात्रा बढ़ाने तथा उसे और अधिक कुशल बनाने की आवश्यकता और प्रेरणा नहीं रह जाती। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के पैरों में बेड़ियाँ डाल दी जाती हैं। बीच-बीच में इसे आगे बढ़ने की कुछ छूट मिलती भी है, तो केवल उस दिशा में जिससे मुनाफ़े के मौजूदा उपक्रमों पर कोई आँच न आये।

इतना ही नहीं, आज विज्ञान और प्रौद्योगिकी मानव जीवन की बेहतरी से ज़्यादा विनाश और युद्ध की सेवा में लगे हुए हैं। वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय अनुसन्धान में लगी प्रतिभा, संसाधनों और धन का सबसे बड़ा हिस्सा सैन्य अनुसन्धान में लगा हुआ है। सैनिक शोध और अनुसन्धान का व्यय शुद्ध विज्ञान एवं औद्योगिक अनुसन्धान के मिले-जुले व्यय से बहुत अधिक होता है। यह अनायास नहीं है कि पिछले कुछ दशकों की सबसे बड़ी खोजें – चाहें इण्टरनेट हो या संचार प्रौद्योगिकी के अन्य आविष्कार – रक्षा अनुसन्धान के ही बाई-प्रोडक्ट हैं।

पिछली एक शताब्दी में तमाम बन्धनों के बावजूद विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास जहाँ तक पहुँचा है, उसने इनकी प्रगति की अपार सम्भावनाओं को भी स्पष्ट कर दिया है। आज यह साफ़ हो चुका है कि अगर मौत के उद्योग पर ख़र्च हो रहे संसाधनों को इंसानियत की भलाई की दिशा में मोड़ दिया जाये तो इस दुनिया की कायापलट की जा सकती है। आज भी मनुष्यता विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के जिस स्तर पर खड़ी है, उसके आधार पर पृथ्वी के पर्यावरण को तबाह किये बिना दुनिया की समस्त आबादी को भूख, कुपोषण और अज्ञान से मुक्त कर कई गुना उन्नत जीवन स्तर प्रदान किया जा सकता है। लेकिन यह काम तब तक नहीं किया जा सकता जब तक विज्ञान और प्रौद्योगिकी मुट्ठीभर लोगों की तिज़ोरियाँ भरने और एक छोटी-सी आबादी के लिए विलासिता का सामान

(पृष्ठ 48 पर जारी)

साहित्य का नोबेल पुरस्कार कम्युनिज़्म विरोधी प्रचार मुहिम का एक अंग है

इस बार का साहित्य का नोबेल पुरस्कार रोमानिया की लेखिका हेर्ता म्यूलर को समाजवादी रोमानिया में विस्थापितों के दर्द को बयान करने वाली उनकी कृतियों के लिए दिया गया है। नोबेल पुरस्कार समिति बीच-बीच में साहित्य की दुनिया में अनजान ऐसे लेखकों को पुरस्कृत करने के लिए ढूँढ़-ढूँढ़ कर निकालती रहती है जिनका लेखन कम्युनिज़्म के विरुद्ध प्रचार में इस्तेमाल किया जा सकता है। हेर्ता म्यूलर भी इन्हीं लेखकों की क़तार में शामिल हैं।

रोमानिया में बसे जर्मन लोगों के विस्थापन को दर्शाने वाली उनकी कृतियों का कोई विश्वस्तरीय साहित्यिक मूल्य नहीं है मगर उनका महत्व इस बात में है कि विस्थापितों की पीड़ा को वे तथाकथित समाजवाद से जोड़कर दर्शाती हैं। यह अलग बात है कि वे जिस ''समाजवादी रोमानिया'' का चित्रण करती हैं दरअसल वह समाजवाद था ही नहीं बल्कि समाजवाद के खोल में सामाजिक फासीवादी सत्ता थी। 1956 में ख्रुश्चेव के नेतृत्व में सोवियत संघ में पूँजीवाद की पुनर्स्थापना मुकम्मल किये जाने के बाद रोमानिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, बल्गारिया, पूर्वी जर्मनी आदि पूरे पूर्वी यूरोप में समाजवाद के नाम पर नये नौकरशाह पूँजीपति वर्ग की अगुवाई में जो सामाजिक फासीवादी तन्त्र स्थापित हुआ उसमें वे पूँजीवाद की तमाम बुराइयों के साथ जातीय-भाषाई अल्पसंख्यकों के साथ भेदभाव और उत्पीड़न भी शामिल था। मगर इसका समाजवाद से कोई सम्बन्ध नहीं था।

राजकीय पूँजीवाद का संचालन करने वाले अल्पसंख्यक अभिजात वर्ग के कुकृत्यों को समाजवाद के मत्थे मढ़कर समाजवाद को बदनाम करने का खेल बुर्जुआ मीडिया शीतयुद्ध के दिनों से ही खेलता आ रहा है। यह भी उसी मुहिम का एक हिस्सा है।

नोबेल पुरस्कार किस क़दर राजनीति से निर्धारित होते हैं यह अब कोई रहस्य की बात नहीं रह गयी है। ख़ासकर साहित्य के पुरस्कारों में कम्युनिज़्म विरोध की राजनीति बहुत साफ़ तौर पर दिखती रही है। एक ओर ढूँढ़-ढूँढ़कर ऐसे लेखकों को पुरस्कृत किया जाता है जिनके ज़रिये कम्युनिज़्म को बदनाम किया जाये दूसरी ओर ऐसे लेखकों की बहुत बड़ी संख्या है जिन्हें उनके समाजवादी विचारों के कारण पुरस्कृत होने लायक़ नहीं समझा गया।

> "अब क्रान्ति में ही देश का उद्धार है, ऐसी क्रान्ति जो सर्वव्यापक हो, जो जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धान्तों और परिपाटियों का अन्त कर दे। जो एक नये युग की प्रवर्तक हो, एक नयी सृष्टि खड़ी कर दे, जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकने वाले राज्य के पंजे से मुक्त कर दे।" – **प्रेमवन्द ('कर्मभूमि' से)**

दुनिया के सबसे बड़े हत्यारे गिरोह के सरगना ओबामा का "शान्ति" का नोबेल पुरस्कार!!

लगता है कि नोबेल पुरस्कार समिति खुद ही नहीं चाहती कि नोबेल पुरस्कारों की राजनीति के बारे में लोग भ्रम में रहें। शायद इसीलिए इस बार का शान्ति का नोबेल पुरस्कार अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा को दिया गया है।

ओबामा ने भी यह भ्रम बनाये रखने की कोई कोशिश नहीं की और अपने पुरस्कार स्वीकार भाषण में साफ़ कर दिया कि उनके लिए शान्ति का मतलब है युद्ध! इराक़ और अफ़ग़ानिस्तान पर अमेरिकी हमलों को जायज़ ठहराते हुए उन्होंने फ़रमाया कि ये सारे युद्ध दरअसल शान्ति के लिए उनके प्रयासों का ही हिस्सा हैं। वैसे अमेरिका पिछले सौ साल से लगातार ऐसी "शान्ति" के लिए प्रयासरत है। पिछले सौ सालों के दौरान उसने विश्व शान्ति की खोज में परमाणु बम बनाया, उसे दो शहरों पर गिराकर लाखों लोगों को मौत के घाट उतारा, सौ से अधिक बार विभिन्न देशों पर हमला किया, अनगिनत देशों में तख्तापलट कराया, दुनिया को कई बार तबाह कर देने लायक़ हथियार बनाये और उन्हें बेचने के लिए दुनिया भर में युद्ध भड़काये, भयानक घातक रासायनिक हथियार बनवाये... फिर भी दुनिया ज़्यादा से ज़्यादा अशान्त होती जा रही है, तो इसमें बेचारे अमेरिका और उसके शासकों का क्या दोष?

ओबामा ने एक बात सही कही – कि स्थायी शान्ति केवल एक "न्यायपूर्ण युद्ध" से ही आ सकती है। वे मुनाफ़े की हवस में छेड़े गये अपने युद्धों को "न्यायपूर्ण" बता रहे हैं लेकिन वास्तव में "न्यायपूर्ण युद्ध" वह होगा जो दुनिया से पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के ख़ात्मे के लिए छेड़ा जायेगा।

(पृष्ठ 47 से आगे)

जुटाने वाले अनुचर बने रहेंगे। विज्ञान और प्रौद्योगिकी भी पूरी तरह ऐसे ही समाज में विकास कर सकेंगे जो मुनाफ़े की भूख से नहीं बल्कि मानवता के साझा हित की भावना से प्रेरित और संचालित होगा।

बहुत से वैज्ञानिक और विज्ञान के विद्यार्थी प्राय: ऐसा कहते हैं कि वैज्ञानिक तो निष्ठापूवर्क अपना काम करता है, यह देखना उसका काम नहीं है कि उसके काम के नतीजे क्या होते हैं। ऐसे लोगों से हम यही कह सकते हें कि वैज्ञानिक का आविष्कार और उसका प्रभाव सामाजिक ढाँचे से निरपेक्ष नहीं हो सकता। जैसा कि प्रसिद्ध जर्मन कवि व नाटककार बेर्टोल्ट ब्रेष्ट ने कहा है:

"वैज्ञानिक अक्सर दावा करते हैं कि उनके शोध के परिणाम उनके प्रभावों से जुदा होते हैं...। मगर विज्ञान में कोई शाश्वत सत्य नहीं होता। E=Mc2 का फ़ार्मूला शश्वत और स्वतंत्र बताया जाता है लेकिन इसी का प्रभाव यह होता है कि हिरोशिमा दुनिया के नक्शे से मिट जाता है।"

सकर्मक विमर्श

पानी की सियासत

अभी हाल ही में दिल्ली की शीला दीक्षित सरकार ने दिल्ली की जनता के लिए पानी को दो से तीन गुना तक महँगा बना दिया। इसके साथ ही दिल्ली की जनता के लिए पीने के पानी की समस्या और अधिक भयंकर हो गई। शीला दीक्षित ने कहा कि शहर में जारी विकास कार्यों के लिए राजस्व जुटाने के लिए यह क़दम उठाया गया है। ज्ञात हो कि दिल्ली में पिछले क़रीब 8 वर्षों से 2010 के कॉमनवेल्थ गेम्स की तैयारी चल रही है। इसके मद्देनज़र दिल्ली में होटलों, एक्सप्रेस-वे, फ़्लाईओवरों आदि का निर्माण चल रहा है। यह सारा इन्तज़ाम दिल्ली को विदेशी सैलानियों और अमीरज़ादों की औलादों के लिए सैरगाह बनाने के लिए किया जा रहा है। प्रदेश की ग़रीब जनता को इससे कुछ भी नसीब नहीं होने वाला है। हम सभी इस बात को जानते हैं। इसके लिए जनता के जेब से एक-एक करके हर पाई निचोड़ डालनें का षड्यंत्र रचा गया है। पहले बिजली महँगी हुई, उसके बाद डी.टी.सी. का किराया बढ़ा, फिर मेट्रो का किराया और अब पानी!

पानी हम लोगों की एक बुनियादी ज़रूरत है। कहा भी गया है कि 'जल ही जीवन' है। अच्छे स्वास्थ्य के लिए साफ़ पानी ज़रूरी होता है। वैज्ञानिक समुदाय भी आज चाँद और मंगल ग्रह पर पानी से जुड़ी खोजों पर काम कर रहा है। भारत के सन्दर्भ में बात की जाए तो पानी की कमी एक बड़ी समस्या बन चुकी है। पीने के लिए साफ़ पानी की बात तो छोड़िये प्रतिदिन के आवश्यक कार्यों के लिए भी पानी की कमी बढ़ती जा रही है। देश के कई राज्यों समेत देश की राजधानी दिल्ली का भी बुरा हाल हो चुका है। इक्कीसवीं सदी में भी लोग दूषित पानी पीने को मजबूर हैं। सिर्फ़ ऊपरी तबके के लोग और अफ़सरशाही के लोग ही इस समस्या से कोसों दूर हैं। पानी की कमी की समस्या का असली सामना तो यहाँ का आम मेहनतकश वर्ग कर रहा है। देश की 84 करोड़ जनता जो 20 रुपये से भी कम पर रोज़ाना गुज़र कर रही है महँगाई, अशिक्षा, बेरोज़गारी, महँगी दवा-इलाज से तो जूझ रही है अब साफ़ पानी के अधिकार से भी महरूम होती जा रही है। आइये कुछ तथ्यों पर ग़ौर करें ।

– भोपाल से चालीस कि.मी. दूर सिहोर में नगरपालिका ने स्थानीय लोगों को पीने के पानी का राशनकार्ड देने का फ़ैसला किया है ताकि सब लोगों को पानी बराबर मिल सके और दबंग लोग उस पर क़ब्ज़ा न कर पाए। भोपाल से ही डेढ़ सौ किमी दूर देवास शहर में पानी की सप्लाई करनेवाली पाइपों की सुरक्षा के लिए धारा 144 लगा दी गई है। यही हाल उज्जैन का है।

– हिमाचल के शिमला में पानी हर दूसरे दिन ही आता है।

– एक रिर्पोट के अनुसार उ.प्र., राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, तमिलनाडु भी पानी का गम्भीर संकट झेल रहे हैं।

– पानी की गुणवत्ता के मामले में दुनिया के 122 देशों में भारत का नाम तीन सबसे प्रदूषित पानी वाले देशों में शामिल है।

– देश में जितने बच्चों की मौत प्रदूषित पानी के कारण होती है उतनी किसी और अन्य पदार्थ के उपभोग से नहीं होती है।

– देश की राजधानी दिल्ली के हालात तो बहुत गम्भीर हैं। दिल्ली सरकार ने इस मामले में हाथ खड़े कर दिये हैं और इसने केन्द्र सरकार से इस मामले में हस्तक्षेप करने का आग्रह किया है। दिल्ली की माननीय मुख्यमन्त्री ने इस समस्या का कारण सीधे-सीधे प्रदेश की बढ़ती आबादी को बताया है।

ख़ैर यह कोई नयी बात नहीं है कि भारत देश के सांसद, विधायक समेत इस पूँजीवादी व्यवस्था के पैरोकार लोग जब समस्या का हल नहीं निकाल पाते हैं तो समस्या का कारण बढ़ती हुई जनसंख्या बता कर पल्ला झाड़ लेते हैं। प्रिण्ट मीडिया और इंलेक्ट्रोनिक मीडिया भी नेक नसीहतें और सलाहें प्रस्तुत करते हुए जनता की पक्षधरता का नाटक बखूबी अदा करता है। यह बात सही है कि हमारे देश में प्राकृतिक एवं भौगोलिक असमानता है, यानि पानी के स्रोत हर राज्य व क्षेत्र में समान रूप से उपलब्ध नहीं है लेकिन क्या राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक स्तरों से इस प्रकृति प्रदत्त समस्या से निपटा नहीं जा सकता! विज्ञान व उच्चतम तकनीक के माध्यम से आज के समय में यह सम्भव है। लेकिन देश की जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले लोग जिन वी.आई.पी. इलाक़ों जैसे नार्थ एवेन्यू, साउथ एवेन्यू और ऐसे इलाक़े में रहते हैं वहाँ पानी की कोई समस्या नहीं है। सब राज्यों की राजधानी में बसे सत्ताधारी लोगों को भी उनकी ज़रूरत से अधिक साफ़ पानी चौबीस घण्टे उपलब्ध रहता है। तब उन लोगों को आम मेहनतकश जनता का दर्द कहाँ से नज़र आयेगा। दूसरा पहलू यह है कि उदारीकरण, निजीकरण के नाम जिस तरह पूँजीपतियों को लूटने की खुली बेलगाम छूट दी जा चुकी है तो ऐसे में पूँजीपति पानी को भी बिकाऊ माल बनाकर बाज़ार में बेच कर मुनाफ़ा अर्जित करने में पीछे क्यों रहे।

सुप्रीम कोर्ट ने पानी के मसले पर कहा था कि जो सरकार लोगों को पानी मुहैया न करा सके, उसे शासन करने का कोई अधिकार नहीं है। न्यायपालिका के ये फ़रमान महज़ बातें हैं, और इन बातों का क्या?

मुद्दे पर पुन: लौटते हुए हम बात कर रहे थे कि बढ़ती जनसंख्या को पानी की कमी का कारण घोषित कर दिया गया है। लेकिन क्यों? केन्द्रीय जल आयोग के अनुसार भारत में प्रति व्यक्ति हर साल 1,023 घनमीटर पानी मिल सकता

है। जबकि 2000 में प्रति व्यक्ति माँग केवल 634 घनमीटर थी। अगर पिछले नौ सालों में यह माँग बढ़ भी गई होगी तो यह 700 घनमीटर से अधिक नहीं हो सकती। तो फिर व्यवधान कहाँ है? व्यवधान हमारे समाज के भीतर ही मौजूद है। दिल्ली में दिल्ली जल बोर्ड के समानान्तर दबंग लोग और अवैध जल माफ़िया पानी का कारोबार कर रहे हैं। इन लोगों ने पानी के पाइपलाइन बिछाकर कनेक्शन बाँट रखे हैं। 1300 करोड़ से ज़्यादा के इस सालाना कारोबार में 1900 सम्पत्तियाँ निजी हाथों में दी जा चुकी हैं। इसमें 600 करोड़ की लागत वाला दिल्ली का सोनिया विहार संयन्त्र भी है जो कि स्वेज डेगरामेण्ट कम्पनी ने लिया है जिसके हाथों में रिठाला संयन्त्र भी है। अलग-अलग ठेकेदारों के हाथों में एक हज़ार ट्यूबवेल, 300 सीवेज और बूस्टर पम्पिंग स्टेशन व 600 टैंकर देना भी शामिल है।

ग़ौरतलब बात यह है कि उदारीकरण, निजीकरण की नीतियों के चलते देशी-विदेशी कम्पनियाँ प्रचुर मात्रा में भू-जल स्तर का दोहन कर उन्हें बोतल में पैक करके यहीं की जनता को बेचकर अपनी तिजोरियाँ भर रही हैं। अगर देश के नदियों की बात की जाए तो गंगा-यमुना समेत देश की तमाम नदियाँ आज प्रदूषित हो चुकी हैं। एक तरफ़ तो पूँजीपति प्राकृतिक सम्पदा और श्रम की लूट को लगातार जारी रखता है, दूसरी ओर उसी की फ़ैक्टरियों, कारखानों का टनों औद्योगिक रासायनिक कचरा नदियों को विषैला बनाने में कोई चूक नहीं करता है। आज ये हालात हैं कि देश की तमाम नदियों के पानी में घातक रसायन और धातुओं के स्तर तयशुदा सीमा से काफ़ी ज़्यादा पाया गया है। जल के नमूने में आर्सेनिक, बेंजीन और सीसे की ख़तरनाक मात्रा पाई गई है। इस पानी के इस्तेमाल से आयु कम होने के अलावा कैंसर जैसी बीमारियों का जन्म होता है। हैजा, पेचिश जैसी आम बीमारियों के साथ-साथ दिमाग़ी और आनुवांशिक रोगों का भी जन्म होता है। कुछ बातों पर ग़ौर फ़रमाइये :

– सैण्ट्रल फूड एण्ड टेक्नोलॉजिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट (मैसूर) ने अपने कई अध्ययनों में पाया है कि मैसूर के आसपास के इलाक़ों में उगाई जाने वाली सब्जियों में सीसा, क्रोमियम, आर्सेनिक और पारा होता है। इसकी वजह यहाँ की औद्योगिक इकाइयों से निकलने वाला कचरा है।

– पंजाब कृषि विश्वविद्यालय ने भी अपनी जाँच में औद्योगिक इकाई से सब्जियों के प्रदूषित होने की सत्यता प्रमाणित की है।

– अभी तक जो कुछ भी सामने आया है वह एक छोटा सा ट्रेलर है असली फ़िल्म तो 'इंडिया इज़ शाइनिंग' तो कभी 'भारत के विकास' के रेशमी और जगमगाते परदे के पीछे अबाध गति से चलायमान है। सरकार तभी जागती है जब समस्या ख़तरे के निशान से ऊपर हो जाती है और लोगों के आक्रोश के फूटने की स्थिति पैदा हो जाती है। आख़िरकार सरकार ने मजबूर होकर छः सौ छब्बीस ज़िलों में से एक सौ सत्तर ज़िलों को सूखाग्रस्त घोषित कर दिया है। मानसून की कमी को सरकार ने सूखे के लिए जिम्मेदार ठहराते हुए विपक्ष से प्रश्न पूछने का मौक़ा भी हथिया लिया है।

असल बात तो यह है कि सत्ता के गलियारे के लोग पक्ष में बैठें या विपक्ष में इस अमानवीय और खोखली हो चुकी पूँजीवादी व्यवस्था के जुवे को जनता के कन्धों पर लादे रखना चाहते हैं। तब फिर क्या सरकार से अपेक्षा की जाए की वह गिरते भू-जल स्तर को ठीक करे, आम आबादी तक साफ़, स्वच्छ जल की आपूर्ति करे तथा नदियों को साफ़ करके इस्तेमाल करने लायक बना सके तथा अनेक अन्य उपायों से पानी के संकट से जनता को सदा के लिए मुक्ति प्रदान करे! सरकार अपनी नीतियों के द्वारा अपनी पक्षधरता साबित कर चुकी है। निर्णय हमें लेना है कि हमारी पक्षधरता किस ओर है। क्योंकि वास्तविक जीवन में दर्शक कोई नहीं होता, सबको ज़िन्दगी में हिस्सा लेना पड़ता है।

– गौरव

'वाह री न्यायपालिका' – तेरी जय हो!

प्रोफ़ेसर सभ्भरवाल हत्याकाण्ड का निर्णय आने के बाद देश के कई बड़े अखबारों ने टिप्पणी की कि देश की न्यायपालिका का चरित्र पर एक बार फिर सवाल खड़े हो गये हैं। क्या वाक़ई ऐसा हुआ है, या फिर देश की न्यायपालिका का मूल चरित्र ही ऐसा है। अव्वलन तो दुनिया के इस सबसे विशाल लोकतन्त्र के बारे में यह तर्क दिया जाता है कि इसके तीन स्तम्भों में से दो – विधायिका और कार्यपालिका, तो खुले और बिल्कुल नंगे तौर पर पूँजीपतियों की सेवा करते हैं, लेकिन न्यायपालिका अभी भी वर्गीय सीमाओं को लाँघकर न्याय की रक्षा करती है। शहरी मध्यवर्ग इसी तर्क के बल पर व्यापक आबादी को लोकतन्त्र की दुहाई देता रहता है। अगर प्रोफ़ेसर हरभजन सिंह सभ्भरवाल के हत्याकाण्ड और उसके बाद की पूरी क़ानूनी प्रक्रिया पर नज़र डाली जाये तो यह बात स्वतः ही स्पष्ट हो जायेगी कि न्यायपालिका और विधायिका एवं कार्यपालिका के बीच कोई चीन की दीवार नहीं होती (यह इस बात का निषेध नहीं है कि उनका कोई स्वतन्त्र चरित्र नहीं होता)।

प्रोफ़ेसर सभ्भरवाल, उज्जैन के माधव कॉलेज के राजनीति विज्ञान विभाग के अधयक्ष थे। 6 अगस्त, 2006 में कॉलेज में एक आदेश के अनुसार छात्रसंघ चुनावों को स्थगित किया जा रहा था। इसी को लेकर प्रो. सभ्भरवाल छात्रों को समझाने के प्रयास कर रहे थे। इसी दौरान छात्रों के एक समूह द्वारा, जिसमें मुख्यतः ए.बी.वी.पी. के कार्यकर्त्ता थे, उनके ऊपर हमला कर दिया। हमला इतना नृशंस और अपराधी क़िस्म का था, कि उन्हें पीट-पीट कर लहूलुहान कर दिया गया।

अस्पताल ले जाते हुए ही वह क़रीबन मृत हो चुके थे। पोस्टमार्टम रिपोर्ट के अनुसार उनकी मृत्यु का मुख्य कारण पसलियों का टूटना और हृदय आघात (हार्ट अटैक) था। इस घटना के दौरान सैकड़ों लोग, जिसमें हमारे सम्भ्रात घरों से आने वाले छात्र, प्रशासन के अधिकारी और बहुत से प्रोफ़ेसर उपस्थित थे, लेकिन उन्हें इसमें हस्तक्षेप करने की कोई ज़रूरत नहीं महसूस हुई।

चूँकि मामला एक कॉलेज के प्रोफ़ेसर का था, इसलिए मामला न्यायालय तक पहुँचा (जहाँ 12 जुलाई, 2009 को नागपुर की एक सेशन कोर्ट द्वारा ए.बी.वी.पी. के 6 कार्यकर्त्ताओं को जो कि मुख्य अभियुक्त थे बाइज़्ज़त बरी कर दिया गया। निर्णय सुनाते वक्त न्यायधीश श्री नितिन दाल्वी ने कहा कि प्रो. सभ्भरवाल के साथ न्याय नहीं किया जा सकता, क्योंकि अभियोगी पक्ष, यह साबित नहीं कर सका कि ए.बी.वी.पी. के वे 6 कार्यकर्त्ता उस दिन घटनास्थल पर मौजूद थे। पूरे ट्रायल के दौरान क़रीब 69 लोगों को तलब किया गया, परन्तु उसमें से कोई भी अपराधियों को पहचान नहीं सका। इस पूरे घटनाक्रम के दौरान मध्यप्रदेश सरकार उसके मुखिया श्री शिवराज सिंह चौहान की क्या भूमिका रही, यह जगज़ाहिर है। उन्होंने शुरू से ही कहा था, कि प्रो. सभ्भरवाल की मृत्यु एक आम घटना थी जिसमें ए.बी.वी.पी. के कार्यकर्त्ताओं का कोई लेना-देना नहीं था। शुरू से ही उन्होंने अभियुक्तों को संरक्षण देने के अलावा माधव कॉलेज के चपरासी से लेकर प्रोफ़ेसर तक सबकी भूमिका तय करने में कोई कोताही नहीं छोड़ी। पूरे घटनाक्रम के साथ 'न्याय' हो, इसके लिए उन्होंने पूरे मसले की स्वयं ही देखरेख की और खुले तौर पर इसे स्वीकार भी किया। उन्होंने शुरू से ही यह बयान दिया कि प्रो. सभ्भरवाल की मृत्यु एक आम घटना थी, जिससे ए.बी.वी.पी. के कार्यकर्त्ताओं का कोई लेना-देना नहीं है। निर्णय आने के बाद भी उन्होंने 'न्याय की विजय' का उद्घोष किया। वैसे शिवराज सिंह चौहान जैसे फ़ासिस्ट से यही उम्मीद थी, जिस पर पूरा मीडिया और शहरी मध्यवर्ग इस तरह हो-हल्ला मचा रहा है, मानो यह पहली बार हुआ हो। जगदीश टाइटलर, नरेन्द्र मोदी, योगी आदित्यनाथ आदि जब क़ानूनी सरंक्षण के साथ छुट्टा घूम सकते हैं तो भला ए.बी.वी.पी. के यह 6 गुण्डे क्यों नहीं।

सवाल यह है कि क्या इन सभी घटनाओं के केन्द्र में महज न्यायपालिका की असफलता है, या तलब किये गये गवाहों की दुनियादारी या कुछ और। अगर हाँ तो उन लाखों घटनाओं का क्या जिसमें बलात्कार से लेकर जला कर मार देने वाली घटनाओं के केस जो न्यायालय की दहलीज और मीडिया के कानों तक पहुँच भी नहीं पाते!

– शिवार्थ पाण्डेय

जपो स्वदेशी-जपो स्वदेशी, पूँजी लाओ रोज़ विदेशी

स्वदेशी का राग अलापने वाला संघ परिवार (आर.एस.एस.) अपने राजनीतिक मंसूबों के लिए यह विदेशी चन्दे का इस्तेमाल करने से भी नहीं चूकती। इसी कड़ी में संघ परिवार की विभिन्न शाखाओं को विदेशी चन्दा मिलने की बात सामने आई। फ़ण्ड जुटाने का काम यह तथाकथित ''देशभक्त'' काफ़ी लम्बे समय से गौरवशाली हिन्दू अतीत के ख़तरे के नाम पर करते रहे हैं। इसी कड़ी में 9 अगस्त 2009 के नई दुनिया अख़बार के पहले पन्ने पर छपी खबर से यह सच्चाई एक बार फिर सामने आई। सीबीआई जाँच के दौरान पाया गया कि संघ परिवार के विभिन्न संगठन को विवेकानन्द के नाम पर, शिक्षा के नाम पर (भगवाकरण के लिए), राम के नाम पर, आदिवासियों के कल्याण के नाम पर, आपदा के नाम पर करोड़ो रुपये का विदेशी चन्दा मिला है। मसलन, 2006-07 में विदेशी चन्दा पाने वाले संगठनों मे विवेकानन्द रॉय मेमोरियल केन्द्र (तमिलनाडू) को 54 लाख 53 हजार 346 रूपये मिले। उतर प्रदेश में सक्रिय शिक्षा भारती संस्था को 27 लाख 56 हजार 400 रूपये मिले तो इसी राज्य में सक्रिय श्री राम विकास समिति को 22 लाख 11 हजार 870, उत्तराखण्ड में दैवी आपदा पीड़ित सहायता समिति को 17 लाख 90 हजार 800, झारखण्ड में बनवासी कल्याण केन्द्र को 6 लाख 50 हजार 430 और केरल में सक्रिय वनवासी आश्रम ट्रस्ट को 5 लाख 59 हजार 876 रुपये मिले।

विदेशी चन्दे की बात तो एक तरफ़ संघ परिवार का विचार और आचार से भी स्वदेशी नहीं है। और न ही गणवेश (यूनीफ़ार्म) और नाम से स्वदेशी। नाम के सन्दर्भ में खुद आर.एस.एस. के सर्वोच्च नेतृत्व ने हिटलर की नाज़ी पार्टी (नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी का संक्षिप्त रूप) और इटली की फ़ासीवादी पार्टी (इतालवी भाषा में 'फ़ासी' शब्द संघ का पर्यायवाची होता है) की प्रेरणा को अपने लेखन में स्वीकारा था और यहाँ तक कि संघ के स्वयंसेवकों का गणवेश (यूनीफ़ार्म) भी स्पेनी और इतालवी फ़ासिस्टों से प्रेरित है। दुनिया में अगर इटली के फ़ासिस्टों की पहचान 'काली कमीज़' और स्पेन के फ़ासिस्टों की पहचान 'भूरी कमीज़' वालों के रूप में थी तो संघियों ने अपनी पहचान 'खाकी निकर' और 'काली टोपी' वालों के रूप में कायम की। अगर वैचारिक सन्दर्भ में बात करें तो डा. केशवराव बलीराम हेडगेवार के सहयोगी डॉ. मुंजे ने इटली के नेता मुसोलिनी से मुलाक़ात तक की थी। और वैचारिक प्रसाद लेकर स्वदेश लौटे थे। संघ परिवार का सांगठनिक ढाँचा और कार्यप्रणाली भी कुछ हिटलर की नाज़ी पार्टी और मुसोलिनी की फ़ासीवादी पार्टी से अद्भुत ढंग से मेल खाता है न कि भारतीय संस्कृति के किसी अध्याय से। इसका सांगठनिक ढांचा न तो किसी तरीक़े के संविधान को मानता

है और न ही अपने पदाधिकारियों के चुने जाने के अधिकार को। चाहे नये सदस्य के भर्ती के वक्त संघ के सरसंघ चालक के प्रति पूर्ण और प्रश्नहीन निष्ठा की सदस्यता की शर्त का सवाल हो या जनवाद का। सांगठनिक ढाँचा चालकानुवर्ती (कमाण्ड स्ट्रक्चर) होता है। संघ की कार्यप्रणाली भी हिटलर-मुसोलिनी की तरह रैलियों के समय मंच के सामने सबसे पहले आर.एस.एस. के वर्दीधारी स्वंयसेवक बैठते हैं और संघ के नेता को हिन्दुओं के वीर सेनानी की तरह प्रस्तुत करते हैं। यहाँ तक कि इनका राष्ट्रवाद भी हिटलर के वृहत्तर जर्मनराष्ट्र जिसमें ऑस्ट्रिया, प्रशा, बवारिया तथा चेकोस्लोवाकिया को मिलाकर बनाया गया था की तर्ज पर है। उसी तरह 'अखण्ड भारत' की बात भी पाकिस्तान, भारत, बर्मा, श्रीलंका, नेपाल आदि को मिलाकर की गई है। हेडगेवार से गोलवलकर तथा अशोक सिंघल, प्रवीण तोगड़िया, नरेन्द्र मोदी के भाषणों की शैली की बात हो या गुजरात में मुसलमानों का सफ़ाया अभियान हो या कन्धमाल में ईसाईयों का - यह भी जर्मनी के यहूदियों के सफ़ाये अभियान की तर्ज पर किया गया है। संघ परिवार का 'राष्ट्रवाद', मुसलमानों सहित सभी अल्पसंख्यक समुदायों के प्रति घृणा और हिन्दू जाति के प्रति श्रेष्ठताबोध की बात करता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ समूचे राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के दौरान आर.एस.एस. ने कभी हिस्सा नहीं लिया। संघ के कार्यकर्त्ताओं द्वारा अपनी चमड़ी बचाने के लिए आज़ादी के सिपाहियों के ख़िलाफ़ गवाही देने तक के प्रमाण उपलब्ध हैं।

संघ परिवार के 'स्वदेशी' आर्थिक चिन्तन और राजनीतिक अवधारणाओं तक की असलियत भी जानना ज़रूरी है। संघ शुरू से अमेरिकी क़िस्म के पूँजीवादी मॉडल और अमेरिकापरस्त विदेशनीति का समर्थक रहा है। जिसको अपने भोंपू 'ऑर्गनाइज़र' में भी स्वीकारा है। इसकी राजनीतिक शाखा भारतीय जनता पार्टी खुले बाज़ार की नीतियों और विदेशी पूँजी की मदद से देश के आर्थिक विकास की हिमायती रही है। अपने कार्यकाल में सरकार ने खुद जनता की गाढ़ी कमाई से खड़े किये सार्वजनिक क्षेत्र के प्रतिष्ठानों को अरुण शोरी के नेतृत्व में बाक़ायदा एक विनिवेश मन्त्रालय खोला गया था।

संघ का अगर चाल-चेहरा और चरित्र सबकुछ हिटलर-मुसोलिनी की तरह विदेशी है यहाँ तक की आत्मा भी, तो यह विदेशी चन्दे को इस्तेमाल करने से क्यों चूके। संघ परिवार भारतीयों से भी चन्दा इस्तेमाल करने में नहीं चूकती। पिछले वर्ष ही दो उद्योगपतियों के नाम सामने आये थे। जब संघ परिवार की शाखाओं में शामिल होने वाले लोगों की गिनती में कमी 60 हज़ार से 20 हज़ार के क़रीब रह गयी थी। इस स्थिति से उबरने के लिए आर.एस.एस. ने उद्योगपतियों के आगे मदद की अपील की थी और एक हिन्दू फ़ण्ड बनाने की योजना बनाई थी। संघ ने इस फ़ण्ड का प्रयोग एक तरफ़ दिल्ली और प्रदेश की राजधानियों में उच्च पदों पर विराजमान नौकरशाहों और सेना के उच्च अधिकारियों के सम्बन्ध स्थापित करके उनके बीच संघ की विचारधारा ले जायेंगे और कॉरपोरेट जगत के युवाओं को अपने रंग में रँगने की कोशिश के लिए।

यह कोई पहली और अन्तिम पोल नहीं होगी जो खुलेगी एक और तथ्य से इस बात से भी अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि 15वीं लोकसभा में संघ परिवार की राजनीतिक शाखा भाजपा (नीत राजग गठबंधन फ़िलहाल विपक्ष की भूमिका में है) ने 129 करोड़पतियों को टिकट दिया। कांग्रेस पार्टी की तरह भाजपा ने भी साढ़े 52 करोड़ रुपये पूँजीपतियों से लिए। भाजपा में भी अन्य पार्टियों की तरह संसद में धनपतियों की सीधी भागीदारी बढ़ी है। स्वयं चुनाव आयोग के अधिकारी वाई. एम. क़ुरेशी ने माना है कि चुनाव आयोग चुनावों में काले धन के उपयोग को रोकने में असफल रहा है। संघ अपने दर्जनों अन्य संगठनों - ए.बी.वी.पी., विहिप, बजरंग दल, श्रीराम सेना आदि भारत में फ़ासीवादी नीतियों को लागू करने का प्रयास कर रहा है। चाहे इस वक़्त वह सत्ता में विपक्ष की भूमिका निभा रहा है। संघ के अलावा अन्य ऐसे संगठन देश में जनता को जाति, धर्म, गोत्र, नस्ल, भाषा, संस्कृति, क्षेत्र, अस्मिता, राष्ट्र आदि के नाम पर हमारे बीच नफ़रत के बीच बोते रहेंगे जब तक इसका मानवद्रोही, ग़ैरजनतान्त्रिक, पुरातनपन्थी ताक़तों का जनता के बीच परदाफ़ाश नहीं कर देते और एक बेहतर विकल्प नहीं रखते, तब तक फ़ासीवाद का यह दानव मेहनतकश समाज को निगलता जायेगा। क्रान्तिकारी ताक़तें ही सचेतन रूप से इनको जनता की ताक़त के बल पर दफ़ना सकती हैं।

- शाम

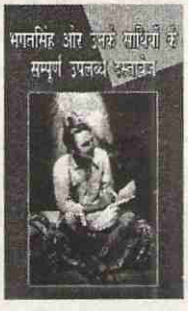

भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़

भगतसिंह का चिन्तन परम्परा और परिवर्तन के द्वन्द्व का जीवन्त रूप है और आज, जब नयी क्रान्तिकारी शक्तियों को एक बार फिर संगठित होकर साम्राज्यवाद और देशी पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष की दिशा और मार्ग का सन्धान करना है, जब एक बार फिर नयी समाजवादी क्रान्ति की रणनीति और आम रणकौशल विकसित करने का कार्यभार हमारे सामने है तो भगतसिंह की विचार-प्रक्रिया और उसके निष्कर्षों से हमें बहुमूल्य चीज़ें सीखने को मिलेंगी।

भगतसिंह और उनके क्रान्तिकारी साथियों के समस्त उपलब्ध दस्तावेज़ों का पहला सम्पूर्ण संकलन। (पृ. 752, मूल्य: रु. 200)

प्राप्त करने के लिए संपर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226020

इतिहास

न उनकी जीत अन्तिम है, न अपनी हार अन्तिम है!

1 सितम्बर, 1939 को पोलैण्ड पर फ़ासीवादी हमले ने मानव इतिहास के सबसे विनाशकारी पन्ने को खोल दिया था। साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के आन्तरिक संकट के दौर में तेज़ी से उभरता फ़ासीवाद, आने वाले समय में पूरी दुनिया के सामने अनेक चुनौतियाँ लिए खड़ा था। अपने देशों के पूँजीपतियों की आर्थिक मदद के दम पर फ़ासीवादियों ने आबादी के एक भारी हिस्से को प्रभाव में ले लिया था। 1929 में शुरू हुई आर्थिक महामन्दी ने न सिर्फ़ साम्राज्यवादी ताक़तों के आपसी अन्तरविरोधों को और तीखा किया बल्कि खुद जर्मनी, इटली आदि देशों में बेरोज़गार नौजवानों, छोटे पूँजीपतियों, दुकानदारों और असन्तुष्ट मध्यवर्गीय आबादी की एक भारी तादाद पैदा कर दी थी। इसी आबादी को 'उज्जवल भविष्य', 'दुनिया पर राज', 'राष्ट्रीय गौरव', 'प्रथम विश्व युद्ध में हार का बदला' के सपने दिखा और 'राष्ट्रवाद-नस्लवाद' का ज़हर घोलकर फ़ासिस्ट ताक़तों ने उन्नत हथियारों व युद्ध मशीनरी से लैस एक विशाल और बर्बर सेना खड़ी की।

'धुरी' ताक़तों ने यूरोप पर जर्मनी, अफ़्रीका पर इटली व एशिया पर जापान के क़ब्ज़े की योजना बनायी। द्वितीय विश्वयुद्ध शुरू होने के पूर्व ही जर्मनी ने चेकोस्लोवाकिया, फ़्रांस, फ़िनलैण्ड और पूर्वी यूरोपीय देशों में अपनी सैन्य टुकड़ियों को भेज प्राकृतिक संसाधनों और सैन्य दस्तों पर क़ब्ज़ा कर लिया था। फ़ासीवाद के तेज़ी से बढ़ते क़दमों और उनके द्वारा पहुँचाये गये इन्सानी ज़िन्दगियों, प्राकृतिक संसाधनों एवं सम्पत्ति के नुक़सान को देखते हुए हिटलर द्वारा विश्व पर क़ब्ज़ा करने की सम्भावनाएँ ज़ोर पकड़ रही थीं। इसी विनाश को देख स्तालिन ने रूसी सेना को बर्लिन भेजने का प्रस्ताव रखा था अगर अमेरिका और ब्रिटेन पूर्वी यूरोप में नात्सी सेना को चुनौती देकर कमज़ोर करें। लेकिन इस प्रस्ताव को अनसुना कर दिया गया और इसका नतीजा मानव इतिहास का एक बेहद विनाशकारी और मानवद्रोही हिस्सा बन गया है। रूस को अपनी हिफ़ाज़त की तैयारी के लिए के समय चाहिए था इसलिए 1939 जर्मनी के साथ शान्ति सन्धि भी करनी पड़ी लेकिन सोवियत रूस पर फ़ासीवादी हमला निकट भविष्य में नजर आ रहा था। मिले हुए थोड़े से समय में स्तालिन ने फ़ासीवाद को चुनौती देने के लिए जनता को संगठित करना शुरू कर दिया।

22 जून 1941 की रात को जर्मनी, इटली, हंगरी आदि के लगभग 50 लाख सैन्य बलों ने सोवियत रूस की 4,500 कि.मी. लम्बी सीमा पर हमला बोला। इतिहास के सबसे बड़े हमले में सोवियत सेना को पीछे हटना पड़ा। एक साल के अन्दर-अन्दर फ़ासीवादी सेनाएँ रूस के भीतर तक फैल गयीं। रास्ते में आये तमाम नगर, गाँव, उद्योगों को साफ़ कर दिया गया। लेकिन रूस पर क़ब्ज़ा करते हुए, स्तालिनग्राद के रास्ते एशिया में प्रवेश करने का सपना बहुत समय तक टिक न सका।

हिटलर की कुल 250 डिवीजनों में से 200 से भी अधिक डिवीजनों का अकेले सामना करते हुए सोवियत जनता ने आख़िरकार 1943 के मध्य में स्तालिनग्राद को मुक्त करा लिया। इसके बाद एक-एक कर नात्सी सेना को युद्धों में परास्त कर न सिर्फ़ रूस को मुक्त कराया बल्कि 1944-45 तक पोलेण्ड, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, रोमानिया, आस्ट्रिया व पूर्वी यूरोप के देशों से भी फ़ासीवादियों को खदेड़ दिया।

द्वितीय विश्व युद्ध के अंत तक, सोवियत रूस ने किसी भी देश से अधिक नुक़सान उठाया। क़रीब 1.4 करोड़ सोवियत सैनिक युद्ध में शहीद हो गये। जो कि अमेरिका, ब्रिटेन और फ़्रांस द्वारा खोये गये सैनिकों की संख्या से 16 गुना से भी अधिक है। एक करोड़ से भी अधिक सोवियत जनता ने फ़ासीवादी हमलों में जान गँवा दी। आधे से भी अधिक औद्योगिक उत्पादन युद्ध में ख़र्च हो गया। हज़ारों गाँव, शहर, उद्योग और फसलें उजाड़ दी गईं। लेकिन सोवियत संघ ने इतनी भारी क़ीमत चुकाकर आख़िरकार दुनिया को भयंकर तबाही से बचा लिया। फ़ासीवादियों की योजनाओं में लिखी करोड़ों लोगों की ज़िन्दगियों और ख़रबों रुपये की सम्पत्ति और प्राकृतिक संसाधनों की बरबादी से बचा लिया गया। यदि ऐसा न होता तो शायद आज दुनिया की तस्वीर कुछ और ही होती।

द्वितीय विश्वयुद्ध में सोवियत रूस की ज़मीन पर फ़ासीवाद की हार कोई आकस्मिक घटना नहीं है। हर ऐतिहासिक घटना की तरह, इसके भी सामाजिक कारण हैं। फ़ासीवाद के विरुद्ध संघर्षरत देशों में सोवियत रूस ही एक ऐसा देश था जहाँ पर आर्थिक-सामाजिक ढाँचे पर चन्द पूँजीपतियों-ज़मीदारों का क़ब्ज़ा नहीं था। 1917 की समाजवादी क्रान्ति के बाद रूस ने समस्त उद्योगों व ज़मीनों के राष्ट्रीकरण की ओर क़दम उठाने शुरू किये। पिछड़ी उत्पादक शक्तियों वाले एक देश में औद्योगिक ढाँचे को खड़ा करने से लेकर कृषि के सामूहिकीकरण-राष्ट्रीयकरण में आई दिक़्क़तों का सामना करते हुए, अपने देश की मेहनतकश जनता के दम पर रूस बेरोज़गारी, कुपोषण, शोषण, वेश्यावृत्ति आदि सामाजिक बीमारियों को ख़त्म करने में सफल रहा।

विश्वयुद्ध से पूर्व सोवियत रूस ने 200 प्रतिशत से भी

अधिक औद्योगिक विकास दर्ज किया। एक ऐसे देश में जहाँ आर्थिक-सामाजिक ढाँचा मुनाफ़े के बजाय लोगों की ज़िन्दगी को बेहतर और अधिक विविधतापूर्ण बनाने पर केन्द्रित था, वहाँ लोग अपनी मेहनत को अपनी ज़िन्दगी देश और समाज में रूपान्तरित होते देख सकते थे।

केवल एक ऐसे देश की जनता ही इतनी भारी क़ुर्बानियाँ देकर अपनी धरती व समस्त मानवता की रक्षा करने का जज़्बा और माद्दा रख सकती थी। युद्ध के दौरान सोवियत जनता ने आर्थिक ढाँचे ख़ासकर भारी उद्योगों को सँभाल कर संघर्षरत सोवियत सेना को कोई कमी नहीं आने दी। अपनी मेहनत से सींचे व निर्मित किये गये सोवियत राज्य की रक्षा करने के लिए छात्रों-नौजवानों, महिलाओं, मज़दूरों, किसानों द्वारा दी गयी क़ुर्बानियों के चित्रण और वीर गाथाएं अक्सर रूसी उपन्यासों में भी मिल जाया करते हैं। अतीत को बदलना तो इन्सानी सीमाओं से बाहर है, लेकिन इतिहास की एक झूठी तस्वीर पेश करने और स्मृतियों को नज़रों से ओझल करने के हरसम्भव प्रयास पूँजीवाद करता रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के इतिहास और सोवियत योगदान को लेकर भी कुछ ऐसा ही रूख देखने को मिलता है। अमेरिका द्वारा लम्बे समय से, फैलायी जा रही धारणा के अनुसार फ़ासीवाद को हराने में सबसे निर्णायक भूमिका 1944 में खोले गये ब्रिटेन-अमेरिका के दूसरे मोर्चे की थी। फ़ासीवाद पर विजय के 65 साल पूरे होने पर हाल ही में फ़्रांस में एक समारोह आयोजित किया गया। अपने वक्तव्यों में फ़्रांस के राष्ट्रपति निकोलस सरकोज़ी, ब्रिटेन के गार्डन ब्राउन और कनाडा के स्टीफ़न हार्थर ने सोवियत रूस का नाम भी न लेते हुए द्वितीय विश्वयुद्ध का एक लम्बा इतिहास पेश कर दिया। ओबामा भी महज़ इतना कहकर पीछे हट गये कि सोवियत रूस ने फ़ासीवाद विरोधी मोर्चे का कुछ भार तो उठाया लेकिन हिटलर को हराने का श्रेय तो पश्चिमी ताक़तों के दूसरे मोर्चे को ही जाता है, जिसके कारण नात्सी सेना दो मोर्चों पर बँटकर कमज़ोर पड़ गयी। वैसे इस प्रकार की धारणाऐं अमेरिका व कई अन्य पूँजीवादी देशों के पाठ्यक्रमों में भी प्रचलित हैं। सच तो यह है कि 1944 में दूसरा मोर्चा खुलने तक सोवियत फ़ौजों ने अकेले दम पर हिटलर को यूरोप से पीछे धकेल इतना कमज़ोर कर दिया था कि अमेरिकी-ब्रिटिश हस्तक्षेप के बिना भी फ़ासीवाद की हार तय थी। लम्बे समय से दूसरा मोर्चा खोलने के स्तालिन के प्रस्ताव को अनसुना करने के पीछे का मक़सद सोवियत रूस को युद्ध में नुक़सान उठाकर अधिक से अधिक कमज़ोर करना था। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चर्चिल ने एक पुस्तक में माना है कि दूसरे मोर्चे को देरी से खोलने का मक़सद यूरोप में समाजवाद को फैलने से रोकना था।

इतिहास को तोड़ने-मरोड़ने में भूतपूर्व समाजवादी पूर्वी यूरोपीय देश भी पीछे नहीं हैं। यहाँ मीडिया और पाठ्यक्रमों में इतिहास की नयी व्याख्याएँ पेश की जा रही हैं। दुनिया को फ़ासीवाद से मुक्त कराने और समाजवादी दौर की प्रगति को भुलाकर आज सोवियत सैनिकों के युद्ध स्मारकों को गिराया जा रहा है। फ़ासीवादी सेना के मददगारों को यूक्रेन व बाल्टिक राज्यों में 'वॉर वेटरन' सम्मान प्राप्त हो रहा है। पूँजीवादी देशों ने बुद्धिजीवियों की पूरी फ़ौज को भी इतिहास के पुनः लेखन का काम सौंप दिया है।

हर शोषक निज़ाम सच्चाई से डरता है। इतिहास और विज्ञान को तोड़मरोड़ कर पेश कर पूँजीवाद अपने अस्तित्व का बार-बार औचित्य साबित करता रहा है। शहादतों को जनता की स्मृति पटल से ओझल करना भारतीय पूँजीवाद की भी पुरानी आदत रही है।

लेकिन बुद्धिजीवियों द्वारा फैलाई गई धुन्ध मीडिया के दुष्प्रचार के बावजूद सच्चाई पर पूरा परदा नहीं डाला जा सकती। शोषक वर्गों की लाख कोशिशों के बाद भी सोवियत जनता की क़ुर्बानियाँ आज दुनियाभर के मेहनतकश व क्रान्तिकारी शक्तियों के लिए प्रेरणास्रोत बनी हुई हैं। मानव सभ्यता को बचाने और आगे ले जाने के सोवियत शहीदों को श्रद्धांजलि देने के साथ ही हम अपने देश के छात्रों-नौजवानों व मज़दूरों को हिटलर-मुसोलनी की देशी जारज औलादों और फ़ासीवाद के नये रूपों के ख़िलाफ़ आज से संगठित होने का आह्वान भी करते हैं।

– **कुणाल**

थ्री इडियट्स...

(पृष्ठ 57 से आगे)

(कंसेप्चुअलाइज़ेशन) दे सकते हैं और व्याख्यायित कर सकते हैं, जिसकी कल्पना *शायद* कहानीकार, पटकथा-लेखक, निर्देशक और आमिर ख़ान जैसे सचेत कलाकार ने न की हो!

लेकिन यह प्रमुख मुद्दा नहीं है। मुख्य बात यह है कि कुल मिलाकर यह फ़िल्म शिक्षा व्यवस्था की एक सुधारवादी आलोचना करती है और वह भी बिना किसी ऑपरेटिव पार्ट के। इसका लक्षित दर्शक वर्ग उच्च वर्ग, उच्च मध्यम वर्ग और उच्च वर्ग की हैसियत हासिल करने का सपना पाले आम और निम्न मध्यम वर्ग के लोग हैं। इसकी पहुँच किसी भी रूप में इस देश के आम ग़रीब लोगों तक नहीं है। इसमें कुछ भी ऐसा नहीं है जिससे इस देश की 85 फ़ीसदी आबादी कोई जुड़ाव महसूस करे। अपनी इस सुधारवादी आलोचना के ज़रिये यह फ़िल्म वही बात करती है जो राजनीतिक मंचों से कपिल सिब्बल करते हैं। इसका कार्य (अगर मकसद नहीं तो) इस व्यवस्था के सांस्कृतिक और वैचारिक वर्चस्व को उन वर्गों के नौजवानों के दिमाग़ में मज़बूत करना है जिन वर्गों के नौजवान इस व्यवस्था को आमूल रूप से बदलने और उसके लिए आम मेहनतकश वर्गों के संघर्ष के साथ जुड़ने के बारे में सोच सकते हैं। इसके और ऐसी तमाम फ़िल्मों के बारे में आलोचनात्मक रूप से सोचना आज बेहद ज़रूरी है क्योंकि इस व्यवस्था के वैचारिक-सांस्कृतिक वर्चस्व का विखण्डन इसके बग़ैर नहीं हो सकता।

फिल्म समीक्षा

'थ्री इडियट्स': क़ामयाब होने का नया मन्त्र–'क़ाबिल बनो!'

लेकिन जनाब आमिर जी और जनाब हीरानी जी! इस समाज में क़ाबिलियत और क़ामयाबी दोनों बिकाऊ माल है!

● शिवार्थ

हाल ही में आमिर ख़ान, आर. माधवन, करीना कपूर, व शरमन जोशी अभिनीत फ़िल्म 'थ्री ईडियट्स' आयी और इसने क़ामयाबी के सारे रिकॉर्ड तोड़ डाले! वाक़ई काफ़ी क़ाबिल फ़िल्म थी! इस फ़िल्म को देखकर ऐसा प्रतीत हुआ कि या तो राजकुमार हीरानी और आमिर ख़ान इस बीच कपिल सिब्बल से मिलते रहे हैं, या फ़िर कपिल सिब्बल फ़िल्म बनाने से पहले दोनों की क्लास ले चुके थे! फ़िल्म सम्पादन के लिहाज़ से अच्छी बन पड़ी है और कहानी गति के साथ चलती है इसलिए बाँधे रखती है। ऐसे में फ़िल्म का गहरा प्रभाव तो पड़ना ही था। साथ ही, फ़िल्म कहीं पर कोई तनाव नहीं देती, इसलिए इसे सफल भी होना ही था। मल्टीप्लेक्स जाने वाले वर्ग के नौजवानों के लिए फ़िल्म में उठायी गयी समस्या वाक़ई मायने रखती है इसलिए फ़िल्म को हिट तो होना ही था।

यह फ़िल्म कहानी है तीन नौजवानों की जो अलग-अलग पृष्ठभूमियों से दिल्ली के एक इंजीनियरिंग कॉलेज में आते हैं जो देश का नम्बर एक इंजीनियरिंग कॉलेज है। इस कॉलेज का डायरेक्टर वीरू सहस्रबुद्धे एक सनकी तानाशाह है और पक्का सामाजिक डार्विनवादी भी, जिसका मानना है कि ज़िन्दगी एक रेस है, अगर तेज़ नहीं भागोगे तो पीछे वाला तुम्हें रौंदकर आगे बढ़ जाएगा। वह पूरे कॉलेज के छात्रों पर पढ़ाई का ऐसा दबाव निर्मित कर देता है कि सभी छात्र ज़बरदस्त दबाव में जीते हैं। ऐसे में वहाँ 'बहती हवा'-सरीखे रणछोड़ दास श्यामलदास चांचड़ उर्फ़ रैंचो (आमिर ख़ान) का प्रवेश होता है। रैंचो आते ही सभी नियम-क़ायदों की धज्जियाँ उड़ाना शुरू कर देता है, चाहे वे सीनियर छात्रों द्वारा स्थापित हों या फिर स्वयं संस्थान के निदेशक द्वारा। देखते-देखते वह छात्रों का चहेता बन जाता है। फ़रहान क़ुरैशी (आर. माधवन) और राजू रस्तोगी (शरमन जोशी) उसके दोस्त कम और भक्त ज़्यादा बन जाते हैं, हालाँकि यह प्रक्रिया थोड़ी उबड़-खाबड़ होती है। रैंचो का मन्त्र होता है 'आल इज़ वेल' यानी 'सब ठीक है'। अपने इस मन्त्र से वह देखते-ही-देखते जटिल से जटिल समस्याओं का समाधान चुटकियों में कर देता है (चाहे वह दोस्त को फ़ोटोग्राफ़र बना देने का सवाल हो, या नौकरी दिला देने का या फिर किसी लड़की की ज़िन्दगी किसी बेवकूफ़ क़िस्म के कारपोरेट स्लेव से बचाने का या फिर वह अस्पताल न पहुँच पाने की सूरत में किसी गर्भवती महिला का बच्चा पैदा कराने का! बस आपको बोलना है - 'आल इज़ वेल', और आपकी समस्याएँ चुटकियों में हल!

यह फ़िल्म शुरुआत करती है इंजीनियरिंग कॉलेजों व अन्य पेशेवर पाठ्यक्रम चलाने वाले संस्थानों में छात्रों के ऊपर मौजूद विभिन्न प्रकार के दबावों के असर से। हमें दिखलाया जाता है कि किस तरह से परिवारवालों का दबाव, पीयर प्रेशर, समाज में कुछ बनकर दिखाने का दबाव, पैसा कमाकर लाने का दबाव एक नौजवान को शिक्षित नहीं होने देता। शिक्षित होने का अर्थ है वाक़ई ज्ञानी बनना और अपने ज्ञान को व्यवहार में लागू कर पाने की क्षमता हासिल करना। आज की शिक्षा व्यवस्था हमें क़ाबिल और शिक्षित बने बग़ैर किसी भी तरह से रटकर, घोंटकर कामयाब बन जाने का रास्ता दिखलाती है। ख़ासतौर पर इंजीनियरिंग कॉलेजों में ऐसा ही होता है। इस बात का भी मज़ाक उड़ाया गया है कि इंजीनियरिंग करने के बाद लोग प्रबन्धन की पढ़ाई करते हैं और फिर किसी ऐसी नौकरी में लग जाते हैं जहाँ न तो उनकी इंजीनियर होने की क़ाबिलियत काम आती है और न ही प्रबन्धक होने की। फ़िल्म में एक छात्र द्वारा आत्महत्या के प्रकरण से इस दबाव की गम्भीरता को दिखलाने का प्रयास किया गया है। लेकिन आप ज़्यादा समय तक गम्भीर नहीं रहते। फ़िल्म आपको इस बात की इजाज़त नहीं देती। उस छात्र (जॉय) की मौत के प्रकरण के कुछ फ़्रेम बाद ही फ़िल्म अपनी शैली पर वापस लौट आती है। इंजीनियरिंग और पेशेवर पाठ्यक्रमों के शिक्षण-प्रशिक्षण के तरीक़ों पर टिप्पणी करते हुए यह फ़िल्म कहती है कि यह शिक्षण नहीं है बल्कि प्रशिक्षण है। प्रशिक्षण तो एक जानवर को भी करतब करना सिखा देता है। नवोन्मेष, आविष्कार और रचनात्मकता का इस प्रशिक्षण से कोई रिश्ता नहीं है। पहले इन्सान को शिक्षित होना चाहिए और फिर प्रशिक्षित। जहाँ तक वैज्ञानिक शिक्षा पद्धति का सवाल है, इस बात में कुछ भी ग़लत प्रतीत नहीं होता। मौजूदा शिक्षा व्यवस्था और विशेषकर पेशेवर पाठ्यक्रमों के शिक्षण-प्रशिक्षण के तौर-तरीक़ों की आलोचना का इसे एक अच्छा प्रयास कहा जा सकता है। हमारे मानव संसाधन विकास मन्त्री ऐसी ही आलोचनाएँ तमाम सार्वजनिक मंचों पर पिछले 1 वर्ष से लगातार रखते आ रहे हैं। चाहे वह दसवीं की परीक्षा को वैकल्पिक बनाने का सवाल हो, या फिर अंकों के बजाय ग्रेड व्यवस्था लागू करने का सवाल हो, इन सबमें सिब्बल साहब की भी यही चिन्ता नज़र आती है - बच्चों पर से दबाव हटाओ! ठीक बात है। लेकिन

पहला सवाल यह है कि क्या यह हमारे समाज और उसकी शिक्षा पद्धति का प्रातिनिधिक यथार्थ है? जिस देश में 77 प्रतिशत आबादी 20 रुपये प्रतिदिन या उससे कम की आय पर गुज़र-बसर कर रही हो (जिस समाज में 46 प्रतिशत बच्चे कुपोषण और भुखमरी का शिकार हों (जिस देश में उच्च शिक्षा तक पहुँचने वालों की संख्या कुल योग्य आबादी का 7 प्रतिशत हो (वहाँ इंजीनियरिंग कॉलेजों में पहुँचने वालों के लिए शिक्षा व्यवस्था की ग़लत पद्धति का सवाल प्रातिनिधिक सवाल नहीं हो सकता। आज प्रातिनिधिक सवाल तो यह है कि उच्च शिक्षा के लिए योग्य कुल आबादी का महज़ 7 प्रतिशत ही क्यों उच्च शिक्षा हासिल कर पाता है? पेशेवर पाठ्यक्रमों तक इस योग्य आबादी का अगर 1 प्रतिशत भी नहीं पहुँच पा रहा है तो ऐसा क्यों है? क्या बाक़ी सभी अयोग्य और नाकारे हैं? नहीं, निश्चित तौर पर नहीं। कारण यह है कि मुनाफ़ा-केन्द्रित पूँजीवादी व्यवस्था कभी योग्यता की सही पहचान कर ही नहीं सकती है। छाँट दिये गये लोग पारम्परिक विश्वविद्यालय शिक्षा को अपनाने पर मजबूर होते हैं और जो विश्वविद्यालय की शिक्षा का भी ख़र्च नहीं उठा पाते वे आई.टी.आई.-पॉलीटेक्निक में दाख़िला लेकर कुशल मज़दूरों की बेरोज़गार जमात में शामिल हो जाते हैं और जो वहाँ तक भी नहीं पहुँच पाते वे आठवीं-दसवीं के बाद शिक्षा छोड़ रोज़ी-रोटी कमाने की जद्दोजहद में लग जाते हैं। और इसके बाद बचने वाली आबादी अशिक्षा के अन्धकार में भटकने को मजबूर होती है और यही बहुसंख्यक आबादी है। इस मामले में फ़िल्म एक ख़तरनाक बात करती नज़र आती है। आमिर ख़ान (रैंचो) हॉस्टल में लड़कों के लिए कपड़े इस्तरी करने, अण्डा-दूध आदि लाने का काम करने वाले एक बच्चे को सुझाव देते हैं कि पढ़ने के लिए पैसों या स्कूल में दाख़िले की ज़रूरत थोड़े ही होती है! बस यूनीफ़ॉर्म की ज़रूरत होती है! यूनीफ़ॉर्म पहनकर किसी भी कक्षा में बैठ जाइये और ज्ञान हासिल कीजिये जो यहाँ-वहाँ बँट रहा है! जब पकड़े जाइये तो यूनीफ़ॉर्म और स्कूल बदल दीजिये! ऐसे 'रचनात्मक सुझावों' से यह फिल्म इस बात को गोल कर जाती है कि शिक्षा देना राज्य का कर्त्तव्य है और अगर वह ऐसा नहीं करता तो उसे कठघरे में खड़ा किया जाना चाहिए। अगर आप नहीं पढ़ पा रहे तो यह तो आपमें रचनात्मकता की कमी है कि आपके दिमाग़ में ऐसा आइडिया नहीं आया। अगर इस देश के 50 फ़ीसदी बच्चे यही युक्ति अपनाने लगें तो क्या होगा इसकी कल्पना का काम हम फ़िल्म के निर्देशक पर छोड़ देते हैं! लेकिन फ़िल्म किसी भी क़ीमत पर सरकार और व्यवस्था को निशाना नहीं बनाना चाहती। वह बस इंजीनियरिंग कॉलेज में शिक्षा की पद्धति की आलोचना करती है, वह भी बिना किसी निश्चित उद्देश्य और नतीजे के। शिक्षा व्यवस्था की अपनी इस आलोचना के बावजूद इस फ़िल्म का इस देश की बहुसंख्यक युवा आबादी की समस्या से कोई सरोकार नहीं है। यह उच्च मध्यवर्गीय और मध्यवर्गीय नौजवानों में से उनकी पीड़ा की बात करती है जो खींचतानकर इंजीनियरिंग कॉलेजों जैसी कुलीन जगहों पर पहुँच पाते हैं और समाज, परिवार और साथियों के दबाव तले दब जाते हैं।

दूसरा सवाल इससे भी अहम है। पूँजीवादी शिक्षा व्यवस्था की ऐसी आलोचनाएँ पूँजीवाद को मज़बूत करने का ही काम करती हैं क्योंकि वह पूरी व्यवस्था का सवाल नहीं उठातीं। ऐसी आलोचनाएँ पूँजीवादी व्यवस्था के वर्चस्व (हेजेमनी) को पूर्ण बनाने का ही काम करती हैं। पूँजीवादी व्यवस्था अपने सांस्कृतिक और वैचारिक माध्यमों के ज़रिये अपनी ही आलोचना करवाती हैं। ऐसा स्वत:स्फूर्त तरीक़े से होता है। इसके लिए किसी मन्त्री को किसी फ़िल्म निर्देशक, संगीतकार या चित्रकार की क्लास लेने की ज़रूरत नहीं पड़ती है। यही वर्चस्व की पूरी मशीनरी का ढाँचा होता है। उसकी फ़ंक्शनिंग काफ़ी हद तक स्वायत्त हो जाती है। उसमें हमेशा राज्य के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती। नागरिक समाज (सिविल सोसायटी) में मौजूद राजसत्ता के सामाजिक अवलम्ब इस काम को स्वयं ही अंजाम देते हैं। सुधारवाद इन कामों को अंजाम देने की ही एक विचारधारा है। आमिर ख़ान की पिछली कुछ फ़िल्में और राजकुमार हीरानी की मुन्नाभाई सीरीज़ इन्हीं कामों को अंजाम देती हैं। इन फ़िल्मों का काम एक सेफ़्टी वॉल्व का होता है। इन्हें देखकर दर्शक का अवचेतन मस्तिष्क अपने सबवर्सिव (परिवर्तनकारी और रचनात्मक रूप से विध्वंसक) दबाव को एक हद तक खो देता है। हमें लगता है कि 'हाँ दिक्कतें तो हैं ही! व्यवस्था भी आत्मालोचनात्मक है। वह प्रयास कर तो रही है कमियों को दूर करने का। लेकिन देखिये, एक दिन में परिवर्तन तो नहीं हो सकता न! इसलिए इसी सुधार की प्रक्रिया को सघन बनाने का प्रयास किया जाय!' लेकिन ऐसे सभी प्रयास इसी व्यवस्था की उम्र को लम्बा करते हैं। आत्मस्वीकार और आत्मालोचना से समस्या दूर नहीं होती है। लेकिन लोगों के दिमाग़ में इस व्यवस्था के संवेदनशील होने का भ्रम ज़रूर पलने लगता है। चाहे वह कपिल सिब्बल का शिक्षा व्यवस्था की कमियों पर स्यापा हो या 'थ्री ईडियट्स' जैसी फ़िल्मों की दंत-नखविहीन आलोचना - इन सबका मक़सद व्यवस्था के वर्चस्व को बढ़ाना है। लोगों के दिमाग़ से शासन करने की सहमति (कंसेण्ट) व्यवस्था महज़ चुनावों के ज़रिये नहीं लेती, बल्कि इसके अधिक कारगर और दूरगामी माध्यम कलात्मक होते हैं। न तो कपिल सिब्बल और न ही आमिर ख़ान या राजकुमार हीरानी इस शिक्षा व्यवस्था में निहित गलाकाटू प्रतिस्पर्द्धा को दूर कर सकते हैं। इसका सवाल पूरी व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। जिस समाज और व्यवस्था में हम जी रहे हैं उसका सिद्धान्त ही सामाजिक डार्विनवाद है। यानी, श्रेष्ठतम की उत्तरजीविता (सर्वाइवल ऑफ़ दि फ़िटेस्ट)। और कहने की ज़रूरत नहीं है कि श्रेष्ठतम की श्रेष्ठता आनुवांशिक नहीं है बल्कि बाज़ार में बिकती है। यहाँ सबकुछ बाज़ार में बिकता है। कामयाबी भी और क़ाबिलियत भी। आप उसे अलग-अलग भी ख़रीद सकते हैं और एक साथ भी। मुख्य सवाल 'परचेज़िंग कैपेसिटी' का होना है।

चलते-चलते फ़िल्म तमाम चीज़ों पर टिप्पणी करती है। इसमें वीरू सहस्रबुद्धे (बोमन ईरानी) का चरित्र बार-बार इस व्यवस्था की सच्चाई को उजागर करता है। लेकिन वह इस

फ़िल्म का प्रति-सन्देश (एण्टी मैसेज) है। मिसाल के तौर पर, उसका यह कहना कि ज़िन्दगी एक रेस है और तेज़ नहीं दौड़ोगे तो पीछे वाला तुम्हें कुचलकर आगे निकल जाएगा। जी हाँ, यह पूँजीवादी समाज में जीवन का सच है। आगे निकलना ही प्रमुख है, सही तरीक़ों से या ग़लत तरीक़ों से। इंजीनियरिंग कॉलेज में चुने जाने को भी वह सही रूपक से समझाता है। कोयल का बच्चा दूसरे पक्षी के घोसले में जन्म लेता है और पैदा होते ही वह उस पक्षी के अण्डों को गिरा देता है। जीवन हत्या के साथ शुरू होता है। विभिन्न प्रजातियों के संघर्ष में उपयुक्ततम और श्रेष्ठतम ही जीवित बचते हैं। लेकिन पूँजीवाद विभिन्न प्रजातियों के बीच के संघर्ष को मानव प्रजाति के भीतर ही लागू करके श्रेष्ठ और उपयुक्त को एक अलग प्रजाति बना देता है और कम श्रेष्ठ और कम उपयुक्त को एक अलग प्रजाति और उनके बीच एक गलाकाटू प्रतियोगिता आयोजित कराता है। डार्विन का सिद्धान्त इण्टर-स्पिशीज़ विश्लेषण के लिए है, इण्ट्रा-स्पिशीज़ विश्लेषण के लिए नहीं। लेकिन पूँजीवाद उसका यही प्रयोग कर सकता है। यही पूँजी का नियम होता है। बड़ी मछली छोटी मछली को निगलती है। यह तो हम सभी जानते हैं कि श्रेष्ठता बाज़ार में बिकती है, आनुवांशिक नहीं होती। ओलम्पिक में स्वर्ण पदक विजेता अभिनव बिन्द्रा ने इस बात को बहुत सही तरीक़े से बतलाया था। बिन्द्रा ने कहा था कि उनके प्रशिक्षण पर करोड़ों रुपये ख़र्च किये गये इसलिए वह इतने क़ाबिल शूटर बन पाए। अगर देश के तमाम युवाओं को ऐसा प्रशिक्षण मिले तो फिर भारत ओलम्पिक की पदक तालिका में पहले स्थान पर भी पहुँच सकता है। लेकिन ज़ाहिरा तौर पर एक पूँजीवादी व्यवस्था और समाज में यह सम्भव नहीं है। वीरू सहस्रबुद्धे फिल्म में एक अलग जगह एक और सही बात कहता है। वह फ़रहान और राजू रस्तोगी को अपने कमरे में बुलाकर बताता है कि तुममें से एक मध्यवर्ग से आता है और एक निम्न मध्यवर्ग से। तुम लोगों के लिए यह चिन्ता का विषय है। इसलिए रैंचो की 'आल इज़ वेल' की फ़िलॉसफ़ी तुम अफ़ोर्ड नहीं कर सकते। तुम्हारे लिए सबकुछ ठीक नहीं है। लेकिन रैंचो फ़िल्म का हीरो है, इसलिए उसका दर्शन ग़लत कैसे हो सकता है! अन्त में, राजू रस्तोगी को एक मेधावी छात्र न होने के बावजूद और अपने इंजीनियरिंग कॉलेज से कुछ समय के लिए निकाले जाने के बावजूद एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी में नौकरी मिल जाती है। बहुराष्ट्रीय कम्पनी का इण्टरव्यू बोर्ड तो एकदम फ़रिश्तों जैसा है! वह राजू रस्तोगी की सच्चाई और ईमानदारी पर फ़िदा हो जाता है! अब जिन्होंने कारपोरेट दुनिया के धनपशुओं को देखा है, वे अच्छी तरह से जानते हैं कि वास्तव में वैसा साक्षात्कार देने के बाद राजू रस्तोगी के साथ कैसा सलूक़ किया जाता! दूसरी तरफ़, फ़रहान क़ुरैशी इंजीनियर नहीं बनना चाहते और वह जो बनना चाहते हैं बन जाते हैं! नहीं बनते तो बाबा रणछोड़दास का दर्शन ग़लत न हो जाता? सो, फ़िल्म में तो यह होना ही था! लेकिन हम सभी जानते हैं कि वास्तविक जीवन में ऐसा होता तो समाज के युवाओं में इतनी निराशा और हताशा का माहौल न होता।

फ़िल्म ग़रीबी और जेण्डर के सवालों को लेकर काफ़ी असंवेदनशीलता का प्रदर्शन भी करती है। राजू रस्तोगी (शरमन जोशी) एक तबाह निम्न मध्यवर्गीय परिवार से आता है। उसके परिवार के माहौल का चित्रण बेहद असंवेदनशीलता के साथ किया गया है। उसके परिवार का दृश्य आते ही फ़िल्म ब्लैक एण्ड व्हाइट में तब्दील हो जाती है। उसके लकवाग्रस्त रिटायर्ड बाप से लेकर, उसकी ग़रीबी से तंगहाल माँ, और निरुद्देश्य जीवन जीती और शादी की उम्र को लाँघती उसकी बहन तक – हर सदस्य का मज़ाक़ उड़ाया जाता है। मानो, यह ग़रीबी कोई मुद्दा ही न हो! लेकिन यह इस समाज की सबसे बड़ी और वास्तविक समस्या है। लेकिन निर्देशक महोदय तो शिक्षा व्यवस्था को ही दुरुस्त कर देने पर तुले हुए हैं। साथ ही, यह भी दिखलाया गया है कि ग़रीब गन्दे होते हैं। राजू रस्तोगी की माँ जिस बेलन से बिस्तर पर पड़े बाप को खुजली करती है उसी से रोटी बेलकर अपने बेटे के दोस्तों को खिलाती है। और साथ ही, सब्ज़ियों आदि के बढ़ते दाम के बारे में उन्हें सुनाती भी रहती है। आनुभविक तौर पर यह पाया गया है कि ग़रीब जो खिलाते हैं दिल से खिलाते हैं और प्यार से खिलाते हैं। ये अमीर होते हैं तो मेज़बानी करते समय भी कौड़ी-छदाम गिनते रहते हैं। अपनी शान के लिए शाहख़र्ची कर दें तो कर दें, लेकिन दिल से स्वागत करना और मेज़बानी करना ग़रीबों की फ़ितरत होती है, अमीरों की नहीं। लेकिन फ़िल्म में एक ग़रीब परिवार का जिस तरीक़े से चित्रण किया गया है वह किसी को भी पूर्वाग्रहित कर देगा।

एक अन्य जगह फ़िल्म में एक पढ़ाकू और तोतारटन्त करने वाले छात्र को इंजीनियरिंग कॉलेज के एक समारोह में अतिथियों के लिए स्वागत वक्तव्य पढ़ना होता है। यह भाषण हिन्दी में होता है और वह छात्र दक्षिण का होने के कारण हिन्दी नहीं समझता और भाषण को कॉलेज के लाईब्रेरियन से रोमन लिपि में लिखवाकर रट लेता है। आमिर ख़ान भाषण की स्क्रिप्ट में हर जगह 'चमत्कार' की जगह 'बलात्कार' और 'धन' की जगह 'स्तन' को रख देता है। इसके बाद वह पूरा भाषण ही मज़ाक़िया बन जाता है। हालाँकि, यह रटन्त पद्धति और इंजीनियरिंग कॉलेज का मज़ाक उड़ाने के लिए किया गया था, लेकिन 'एब्सर्ड ह्यूमर' के इस प्रयोग में एक असंवेदनहीनता नज़र आती है। फिर पूरी फ़िल्म में बलात्कार और स्तन को तमाम चीज़ों के लिए रूपक बनाया जाता है, जो स्त्रियों के प्रति संवेदना की कमी को दिखलाता है। अगर पूरा दर्शक वर्ग इस हास्य की समस्त अर्थच्छायाओं (नुआंसेज़) और परिरेखाओं (कॉण्टुअर्स) को समझने योग्य होता तो कम-से-कम इस हास्य बोध पर बहस हो सकती थी। लेकिन भारतीय फ़िल्मों ने भारतीय दर्शकों की ऐसी योग्यता आज तक विकसित नहीं की है। उन्हें आज तक हास्य के नाम पर भोंड़ापन, अश्लीलता, सौन्दर्यबोध रहित चुटकुले परोसे गये हैं और इन सबने उनके हास्यबोध को जिस रूप में आकार दिया है, उसके बूते तो वे फ़िल्म द्वारा पेश किये गये इस 'एब्सर्ड ह्यूमर' को ऐसे-ऐसे रचनात्मक रूप में ग्रहण (पर्सीव) कर सकते हैं, धारणा-रूप

(शेष पृष्ठ 54 पर)

'जनचेतना' पुस्तक प्रदर्शनी वाहन पर ए.बी.वी.पी. के गुण्डों का हमला

वाहन पर मौजूद कार्यकर्त्ताओं से मारपीट की और वाहन के शीशे तोड़े

छात्रों-नौजवानों के विरोध ने फ़ासीवादी गुण्डों को खदेड़ा

अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के क़रीब 25 गुण्डों ने 20 जनवरी को दिल्ली विश्वविद्यालय के कला संकाय के भीतर विश्वविद्यालय प्रशासन की अनुमति से खड़े 'जनचेतना' पुस्तक प्रदर्शनी वाहन पर हमला किया। उन्होंने वाहन के शीशे तोड़ डाले और वहाँ मौजूद तीन कार्यकर्त्ताओं कुणाल, संजय और नवीन के साथ मारपीट की। ज्ञात हो कि 'जनचेतना' एक सांस्कृतिक मुहिम है जो पिछले 24 वर्षों से पूरे देश में प्रेमचन्द, शरतचन्द्र, गोर्की, तोलस्तोय, हेमिंग्वे, राहुल सांकृत्यायन, राधामोहन गोकुलजी आदि जैसे लेखकों, चिन्तकों और साहित्यकारों के साहित्य व लेखन के जरिये समाज में प्रगतिशील विचारों के प्रचार-प्रसार में लगा हुआ है। 'जनचेतना' के पुस्तक प्रदर्शनी वाहन पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की इस गुण्डावाहिनी ए.बी.वी.पी. का पहला हमला नहीं है। इसके पहले भी जनवाद और समानता के विचारों के प्रचार-प्रसार में लगी इस सांस्कृतिक मुहिम पर संघी गुण्डे हमला कर चुके हैं। इसके पहले मथुरा में भी ए.बी.वी.पी. के गुण्डों ने 'जनचेतना' के पुस्तक प्रदर्शनी वाहन पर हमला किया था। पिछले वर्ष दिल्ली विश्वविद्यालय में भी ए.बी.वी.पी. के गुण्डों ने प्रदर्शनी वाहन पर हमला किया था लेकिन दिशा छात्र संगठन के कार्यकर्त्ताओं ने उन्हें पीटकर वहाँ से खदेड़ दिया था।

इस बार किये गये हमले के दौरान ए.बी.वी.पी. के गुण्डे हॉकी, डण्डों आदि से लैस थे। उनका मकसद वाहन को नुक़सान पहुँचाना था और वे खुले तौर पर बोल भी रहे थे कि इन विचारों का प्रचार-प्रसार विश्वविद्यालय परिसर में नहीं करने दिया जाएगा। 'जनचेतना' के कार्यकर्त्ताओं ने इस पर प्रतिरोध किया तो उनके साथ मारपीट शुरू कर दी गई और वाहन के शीशे तोड़ दिये गये। जब तक यह सूचना 'जनचेतना' के स्वयंसेवकों और अन्य शुभचिन्तकों तक पहुँच पाती तब तक वे वाहन को काफ़ी क्षति पहुँचा चुके थे। इस घटना के बाद दिशा छात्र संगठन, आइसा व एस.एफ.आई. के छात्र 'जनचेतना' के समर्थन में घटनास्थल पर पहुँचे और अपनी एकजुटता जताई। इस हमले के विरोध में दिल्ली विश्वविद्यालय के पूरे जनवादी और प्रगतिशील समुदाय ने अगले दिन कला संकाय के भीतर ही एक विरोध सभा की और जुलूस निकालकर विद्यार्थी परिषद के फ़ासीवादी गुण्डों को चुनौती दी। विरोध सभा को उर्दू विभाग के शिक्षक व प्रगतिशील लेखक संघ के अली जावेद, डेमोक्रेटिक टीचर्स फ़्रण्ट के राजीव, व अन्य शिक्षकों समेत कई कार्यकर्त्ताओं ने सम्बोधित किया।

इस मामले की शिकायत 'जनचेतना' के कार्यकर्त्ताओं ने प्रॉक्टर ऑफ़िस में की और साथ ही मॉरिस नगर थाने में भी शिकायत दर्ज कराई। 'जनचेतना' के संजय ने कहा कि अगर ए.बी.वी.पी. के गुण्डे यह समझते हैं कि इस प्रकार की कार्रवाइयों से वे हमें आतंकित करके यहां से हटा सकते हैं तो यह उनकी बहुत बड़ी भूल है। 'जनचेतना' पुस्तक प्रदर्शनी वाहन कला संकाय में लगा रहेगा और इस क़िस्म के किसी भी हमले का मुँहतोड़ जवाब दिया जाएगा। अनुमति के बाद वाहन की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी विश्वविद्यालय प्रशासन की और पुलिस प्रशासन की बनती है। अगर वह इस काम को नहीं करते हैं तो इस काम को 'जनचेतना' के स्वयंसेवक और समर्थक स्वयं करने को बाध्य होंगे।

उसी दिन विद्यार्थी परिषद के गुण्डे एक बार फिर वाहन के पास आए लेकिन उस समय दिशा छात्र संगठन व अन्य प्रगतिशील छात्र संगठनों के छात्र वाहन की सुरक्षा के लिए वहाँ मौजूद थे और जवाब मिलने के भय से गुण्डे केवल फ़ासीवादी नारेबाज़ी करते रहे। वाहन के पास फटकने की उनकी हिम्मत नहीं हुई। लेकिन वे अपनी राजनीतिक पहुँच से विश्वविद्यालय प्रशासन पर लगातार यह दबाव बना रहे थे कि वाहन वहाँ से हट जाए। अन्त में प्रशासन इस दबाव के आगे झुक गया और वाहन को वहाँ से हटा दिया गया। लेकिन अगले दिन छात्र और शिक्षक बड़ी संख्या में एकजुट होकर प्रॉक्टर गुरमीत सिंह से मिले और विरोध दर्ज कराया। इसके बाद फिर से वाहन दिल्ली विश्वविद्यालय के कला संकाय के भीतर लगाया गया। दिशा छात्र संगठन के वालण्टियर किसी भी हमले से निपटने की तैयारी के साथ वहाँ मौजूद थे। नतीजतन, विद्यार्थी परिषद के गुण्डों की हिम्मत नहीं हुई कि वाहन के पास भी फटकें। ज्ञात हो कि पिछले वर्ष जब जनचेतना वाहन पर परिषद के गुण्डों ने हमला किया था तो दिशा छात्र संगठन के कार्यकर्त्ताओं ने उनकी पिटाई कर दी थी।

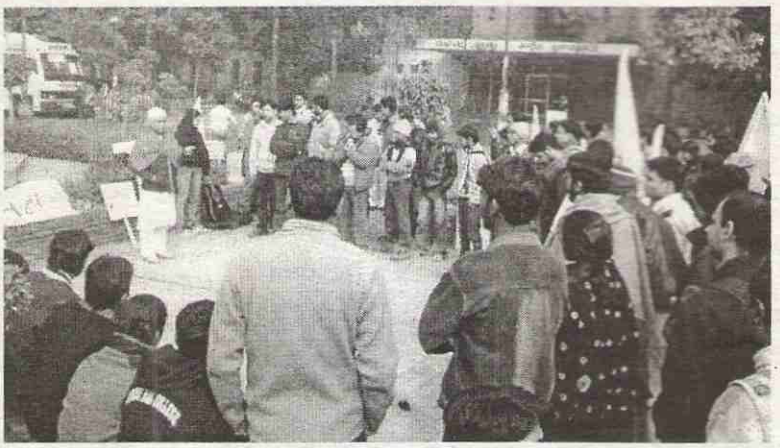

जनचेतना पर हमले के विरोध में दि.वि.वि. में जारी सभा, पृष्ठभूमि में जनचेतना प्रदर्शनी वाहन

मुस्तफ़ाबाद में 'नौजवान भारत सभा' द्वारा तीन दिवसीय मेडिकल कैम्प

नौजवान भारत सभा (नौभास) द्वारा पूर्वी दिल्ली के करावल नगर के एक मज़दूर इलाक़े मुस्तफ़ाबाद में दिनांक 27, 28, 29 को मेडिकल कैम्प आयोजित किया गया जिसमें योग्य डॉक्टरों द्वारा लगभग 500 लोगों को मुफ़्त परामर्श, प्राथमिक जाँच-पड़ताल एवं ज़रूरत के मुताबिक़ दवाइयों का वितरण किया गया। जाँच के दौरान औरतों में ख़ून की कमी पाई गई। जिसका कारण उन्हें पर्याप्त भोजन न उपलब्ध हो पाना है। वहीं बच्चों में चमड़ी के रोग व एलर्जी के लक्षण ज़्यादा पाए गए। जोकि वहाँ साफ़-सफ़ाई की कमी की वजह से है। इसके अलावा विभिन्न पेशे में काम की ख़राब स्थितियों से सम्बन्धित बीमारियाँ थीं। जिन बीमारियों में गरदन दर्द, पीठ दर्द आदि बीमारियों के गम्भीर लक्षण पाए गए। वहीं पर साफ़ पानी न उपलब्ध होने के चलते भी पेट की बीमारियों के लक्षण पाए गए।

इसी कैम्प में एक पोस्टर प्रदर्शनी द्वारा लोगों को बीमारियों के कारणों और उसके जिम्मेदार व्यवस्था का परदाफ़ाश किया गया। जिसमें आज देश में स्वास्थ्य स्थितियों की तस्वीर पेश की गई कि देश में भूख, कुपोषण व ग़रीबी के चलते लोग बीमारी व रोग से ग्रस्त हैं। काम के ज़्यादा घण्टे, कम आराम और ख़राब काम की स्थितियों की मुख्य वजह है बीमारी और रोग की। कैम्प के दौरान लगातार नौभास के वॉलण्टियर लगातार मज़दूरों व आम मेहनतकश आबादी को बता रहे थे कि निःशुल्क चिकित्सा का अधिकार जन्मसिद्ध अधिकार है और इसे उन्हें लड़कर लेना ही होगा।

(कार्यालय संवाददाता)

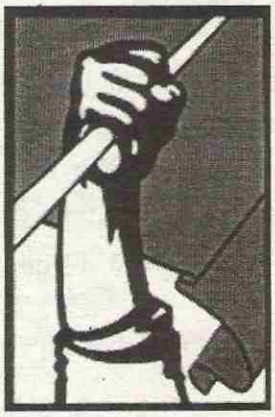

15 अगस्त को नक़ली और झूठी आज़ादी का भण्डाफोड़ अभियान

नौजवान भारत सभा द्वारा 15 अगस्त को नक़ली और झूठी आज़ादी का भण्डाफोड़ अभियान चलाया गया जिसमें लगभग 35 नौभास के कार्यकर्त्ता शामिल हुए। इसकी शुरुआत करावल नगर स्थित नौभास के कार्यालय से गगनभेदी नारों के साथ हुई। 'कैसी खुशियाँ, आज़ादी का कैसा शोर ! राज कर रहें हैं, कफ़नख़सोट-मुर्दाख़ोर!!', 'किसकी है जनवरी, किसका अगस्त है! जनता यहाँ त्रस्त है, नेता मस्त है!!', 'नेताओं का बोलबाला, जनता का पिट रहा दिवाला!', 'पूँजीपतियों से यारी है! जनता से ग़द्दारी है!!', '30 करोड़ हैं बेरोज़गार, कौन है इसका ज़िम्मेदार! टाटा बिड़ला की सरकार! सब हैं इसके ज़िम्मेदार!!', 'गाँव शहर में अलख जगाकर, विदेशी लूट मिटायेंगे! देसी कफ़नख़सोटों को भी लड़कर मार भगायेंगे! कसम शहीदों की भारत में लोकस्वराज बनायेंगे!!', 'ख़त्म करो पूँजी का राज, लड़ो बनाओ लोकस्वराज!', आदि नारे लगाये गये। साइकिलों पर सवार कार्यकर्त्ताओं ने साइकिल के आगे इन्क़लाबी नारों और पूँजीवादी व्यवस्था के भण्डाफोड़ नारों की तख़्तियाँ लगाई हुई थी तथा जोशो-ख़रोश के साथ 'आँधी आये या तूफ़ान, डटे रहेंगे नौजवान' के नारे के साथ बरसात में ही अभियान की शुरुआत कर दी थी। निम्न मध्यवर्गीय इलाक़ों के साथ-साथ, मज़दूर इलाक़ों में जगह-जगह लोकस्वराज का पर्चा बाँटते हुए लोगों से नयी आज़ादी की लड़ाई के लिए उठ खड़े होने आह्वान किया गया। जगह-जगह नुक्कड़ सभाओं की शुरुआत में गगनभेदी नारों और स्काउट ताली के साथ लोगों को गोल घेरे के इर्दगिर्द इकट्ठा किया गया। कार्यकर्त्ताओं ने क्रान्तिकारी गीत 'तोड़ो बन्धन तोड़ो' के साथ शुरुआत की, बारी-बारी से कार्यकर्त्ताओं ने इकट्ठा हुए समूह को 1947 में मिली तथाकथित आज़ादी की असलियत का परदाफ़ाश करते हुए बताया कि 63 साल पहले मिली आज़ादी का फ़ायदा सिर्फ़ 15 फ़ीसदी पूँजीपतियों और उनके टुकड़खोर, परजीवी, भ्रष्ट नेता-मन्त्री, नौकरशाह, पुलिस-फ़ौज के अफ़सरान, ठेकेदारों, दलालों, सट्टेबाज़ों, डॉक्टरों-इंजीनियरों-प्रोफ़ेसरों, अख़बार-टी.वी. के ऊँचे पदों वाले लोगों आदि को मिला और दूसरी तरफ़ देश की 84 करोड़ (77 फ़ीसदी आबादी) जिसमें मेहनत-मजूरी करके जीने वालों की साठ करोड़ आबादी शामिल है वह सिर्फ़ 20 रुपये या इससे भी कम आय पर गुज़ारा करती हुए भूख, कुपोषण, बीमारी, भयानक दरिद्रता की शिकार है। इसका वास्तविक हल एक मज़दूर क्रान्ति द्वारा ही असली आज़ादी और लोकतन्त्र की स्थापना सम्भव है। इसके लिए लोगों को एक बार फिर से

संगठित होने और संघर्ष करने का आह्वान किया गया। और लोगों से कहा गया कि हर गाँव-शहर में, बस्ती और मोहल्ले में संगठन, क्रान्तिकारी मज़दूर-ग़रीब किसानों की यूनियनें, नौजवानों-छात्रों के साथ महिलाओं और आम नागरिकों के भी जनसंगठनों एक ताना-बाना खड़ा करना होगा और एक फ़ैसलाकुन लड़ाई के लिए आगे आना होगा। यही एकमात्र रास्ता हमारे सामने है और हमारे ज़िन्दा होने का सबूत भी। सफ़र यदि हज़ार मील लम्बा हो तो भी शुरुआत तो एक क़दम उठाकर ही की जाती है। इसी बात का आह्वान करते हुए लोगों के बीच क्रान्तिकारी लोकस्वराज का पर्चा बाँटा गया और लोगों से ऐसे अभियानों को दूरदराज तक पहुँचाने के लिए चादर फैलाकर सहयोग भी जुटाया गया। कार्यकर्त्ताओं ने लोगों को बताया कि जनता की लड़ाई, जनता के दम पर लड़ी जा सकती है, न कि टाटा-बिड़ला के सहारे और न ही भ्रष्ट नेता-मन्त्री और अफ़सरों के पैसे के दम पर।

9 अगस्त के मौक़े पर कार्यक्रम

9 अगस्त को 'नौजवान भारत सभा' द्वारा भगतसिंह कालोनी, करावल नगर, दिल्ली में अगस्त क्रान्ति को याद करते हुए पोस्टर प्रदर्शनी व जनसभा का आयोजन किया गया। सभा का आयोजन शाम 5:00 बजे भगत सिंह कॉलोनी के एक चौराहे पर किया गया। आयोजन स्थल पर नौजवान भारत सभा के कार्यकर्त्ता व कालोनी के नौजवानों ने जैसे ही क्रान्तिकारियों के पोस्टर लगाना शुरू किया वैसे ही नागरिकों, बच्चों की भीड़ जुटना शुरू हो गयी। आयोजन स्थल पर लगायी गयी पुस्तक प्रदर्शनी पर लोगों की भीड़ आकर कार्यक्रम के बारे में उत्सुकता से बात कर रही थी। नौभास की दूसरी टोली आसपास की गलियों में ढपली और गीत तथा नारे के साथ कार्यक्रम की सूचना देने निकली जिसमें कॉलोनी के छात्रों और बच्चों ने उत्साहपूर्वक हिस्सा लिया। प्रचार टोली 'अगस्त क्रान्ति के शहीद अमर रहें', 'शहीदों के सपनों को साकार करो' के नारे लगा रही थी। कार्यक्रम के दौरान पर्चा बाँटा गया। देर रात 9:00 बजे कार्यक्रम का समापन क्रान्तिकारी गीत 'आ रे नौजवान' से किया गया। कार्यक्रम में 9 अगस्त 1942 को शुरू हुई अगस्त क्रान्ति के बारे में विस्तार से चर्चा करते हुए नौभास के सदस्यों ने यह बताया कि किस प्रकार अंग्रेज़ी हुकूमत के शोषण से पिस रही भारतीय जनता ने एकजुट होकर संघर्ष का बिगुल फूँका। 'अंग्रेज़ो भारत छोड़ो' के नारे गाँव-गाँव बस्ती-बस्ती गूँज उठे थे। हजारों नौजवानों ने देश की आज़ादी की ख़ातिर अपनी जानें गँवाई थी। इस आन्दोलन को व्यापक मज़दूर और किसान आबादी का सहयोग प्राप्त था। 1942 के क्रान्तिकारी संघर्ष ने भारत की राजनीतिक आज़ादी की प्राप्ति को, भारत की धरती पर अंग्रेज़ी साम्राज्य के सूर्यास्त के भविष्य को पूरी तरह सुनिश्चित कर दिया। 9 अगस्त हमारी क्रान्तिकारी विरासत है। यह नौजवानों का क्रान्तिकारी त्योहार है। यह आज़ादी की लड़ाई और साथ की नौजवान आन्दोलन के इतिहास का, वीरता की गाथाओं से भरा और शहादतों के लहू से रँगा एक पन्ना है।

नौभास के योगेश ने कहा कि आज के समय में सरकार तथा पूँजीपति वर्ग जनता का शोषण कर रहे हैं। खाने-पीने के सामानों से लेकर शिक्षा, चिकित्सा आम आदमी के लिए दूभर होती जा रही है। ऐसे समय में लोगों को चुनावी नौटंकी और धर्म, जाति व समुदाय की गलाजतभरी राजनीति करनेवालों के इरादों को समझना होगा। उससे बाहर आना होगा। नागरिकों को कॉलोनी के साफ़-सफ़ाई, बिजली-पानी की समस्याओं को लेकर एकजुट संघर्ष करना होगा। छात्रों-नौजवानों को शिक्षा और रोज़गार के लिए लड़ना होगा, अपने संगठन बनाने होंगे। इस तरह पूरे देश में मेहनतकश, छात्रों-नौजवानों व नागरिक संगठनों का जाल बिछाना होगा। अगस्त क्रान्ति जनता का दमन व शोषण के विरूद्ध एकजुट संघर्ष की मिसाल है। आज के समय में भारत की मेहनतकश जनता को अपनी मुक्ति के लिए 'अगस्त क्रान्ति' को एक मार्गदर्शक के रूप में याद करना ही 'अगस्त क्रान्ति' के शहीदों के लिए सच्ची श्रद्धांजलि होगी।

(कार्यालय संवाददाता)

सम्पत्ति ने मनुष्य को क्रीतदास बना लिया है। उसकी सारी मानसिक, आत्मिक और दैहिक शक्ति केवल सम्पत्ति के संचय में बीत जाती है। मरते दम तक भी हमें यही हसरत रहती है कि हाय, इस सम्पत्ति का क्या हाल होगा। हम सम्पत्ति के लिए जीते हैं, उसी के लिए मरते हैं। हम विद्वान बनते हैं सम्पत्ति के लिए, गेरुए वस्त्र धारण करते हैं सम्पत्ति के लिए। घी में आलू मिलाकर हम क्यों बेचते हैं? दूध में पानी क्यों मिलाते हैं? भाँति-भाँति के वैज्ञानिक हिंसा-यंत्र क्यों बनाते हैं? वेश्याएँ क्यों बनती हैं, और डाके क्यों पड़ते हैं? इसका एकमात्र कारण सम्पत्ति है। जब तक सम्पत्तिहीन समाज का संगठन नहीं होगा, जब तक सम्पत्ति व्यक्तिवाद का अन्त न होगा, संसार को शान्ति न मिलेगी।

– प्रेमचन्द ('राष्ट्रीयता और अंतरराष्ट्रीयता' लेख से)

दिल्ली मेट्रो में मारे गये मज़दूर हादसे के शिकार या मुनाफ़े के!
डी.एम.आर.सी. और सरकार की हत्यारी नीतियाँ और ठेका कम्पनी की मुनाफ़ाख़ोर हवस!

दिल्ली मेट्रो में कार्यरत मज़दूरों की जीवन स्थितियाँ आज हमें सोचने के लिए मजबूर कर रही हैं कि देश की आज़ादी के 63 साल बाद भी क्या सचमुच देश की मेहनतकश आबादी आज़ाद है? अगर वह आज़ाद है तो 10-12 घण्टे हर रोज़ मौत के साये तले गुलाम की तरह काम करने के लिए, जिसमें अगर ज़िन्दा रहा तो उसे पगार मिल जायेगी वरना वे भी काम के दौरान हर रोज़ देश में मरने वाले 6000 मज़दूरों की गिनती में शामिल हो जायेंगे। दूसरी तरफ़ इन तमाम बेक़सूर मेहनतकशों की मौत के ज़िम्मेदार हत्यारों की न तो गिरफ़्तारी होती है, न ही सज़ा मिलती और न ही मज़दूरों को इन्साफ़ मिलता है। जमरूदपुर मेट्रो हादसे की ताज़ा घटना उसी का एक और प्रमाण है।

पिछली 12 जुलाई की सुबह दिल्ली के जमरूदपुर इलाक़े में मेट्रो रेल का बन रहा पुल गिर जाने से 6 मज़दूरों की मौत हो गयी और क़रीब 20 से 25 मज़दूर घायल हो गये। उस जगह पर काम करने वाले मज़दूरों और उनके सुपरवाइज़र ने मेट्रो प्रशासन और ठेका कम्पनी गैमन को बहुत पहले ही बता दिया था कि इस जगह पर काम करना ख़तरे से ख़ाली नहीं है। मालूम हो कि पुल के पिलर न. 67 में कुछ महीने पहले दरार आ गयी थी जिसके चलते क़रीब तीन महीने पहले काम रोकना पड़ा था। लेकिन 2010 के कॉमनवेल्थ गेम्स से पहले मेट्रो रेल का काम पूरा करके वाहवाही लूटने के चक्कर में मेट्रो प्रशासन ने ठेका कम्पनियों को मज़दूरों का शोषण करने, सभी श्रम क़ानूनों का उल्लंघन करने और तमाम सुरक्षा उपायों की अनदेखी करने की पूरी छूट दे रखी थी। इसीलिए ठेका कम्पनी गैमन इण्डिया ने मेट्रो प्रशासन के इंजीनियरों की जानकारी और इजाज़त से उस दरार की थोड़ी-बहुत मरम्मत करवाकर दो-तीन दिन में ही फिर से काम शुरू करा दिया। 11 जुलाई की रात भी पुल के टूटने के डर से काम को रोकना पड़ा था। लेकिन मुनाफ़े की हवस में अन्धी कम्पनी ने 12 जुलाई की सुबह 4.30 बजे फिर से काम शुरू करवा दिया। कुछ ही देर में दरार वाला खम्भा टूट गया और पुल में लगने वाला लोहे का कई सौ टन का लांचर टूटकर गिर पड़ा जिसके नीचे क़रीब 35 मज़दूर आ गये। इनमें से कुछ ने दुर्घटनास्थल पर और कुछ अस्पताल पहुँचते-पहुँचते मौत की गोद में समा गये। इस दुर्घटना के तुरन्त बाद दिल्ली मेट्रो रेल कारपोरेशन के प्रबन्ध निदेशक ई. श्रीधरन ने प्रेस कांफ्रेंस में इस्तीफ़ा देने की घोषणा कर दी। जैसाकि तय ही था, शीला दीक्षित की सरकार ने इस्तीफ़ा नामंज़ूर कर दिया। साफ़ है कि यह इस्तीफ़ा इस भयंकर दुर्घटना से ध्यान हटाने के लिए की गयी एक नौटंकी थी ताकि मुख्य बात से लोगों को ध्यान हटाया जा सके ऐसे में यह सोचने की बात है कि इन मौतों का ज़िम्मेदार कौन है?

इस घटना के अगले ही दिन उसी जगह पर टूटे लांचर को हटाने के लिए लगायी गयी 4 क्रेनें पलट गयीं जिससे पूरा लांचर और ढेरों मलबा फिर नीचे गिर पड़े। इस दुर्घटना में तीन इंजीनियर और तीन मज़दूर घायल हो गये। कारपोरेट जगत की आँखों के तारे बने श्रीधरन महोदय से पूछा जाना चाहिए कि इन मज़दूरों को ठेका कम्पनियों की मुनाफ़े की हवस के भरोसे छोड़ देने के समय उनकी नैतिकता कहाँ चली गयी थी?

इस हादसे के दो दिन बाद ही 14 जुलाई की सुबह मुम्बई मेट्रो का भी पिलर गिर गया। यहाँ पर भी गैमन इण्डिया काम करवा रही थी। यही वह ठेका कम्पनी है जिसके द्वारा निर्मित एक फ्लाईओवर पिछले वर्ष हैदराबाद में ध्वस्त हो गया था, जिसमें दो लोगों की मौत हो गयी थी। गैमन इण्डिया द्वारा बनाये गये कई ढाँचे पिछले सालों के दौरान क्षतिग्रस्त हो चुके हैं। इन सबके बावजूद गैमन इण्डिया को हमेशा 'क्लीन चिट' मिल गयी। इसी से ठेका कम्पनियों और सरकार में बैठे अधिकारियों के अपवित्र गठबन्धन के बारे में साफ़ पता चल जाता है।

मेट्रो रेल के निर्माण में होने वाली यह पहली दुर्घटना नहीं है। इससे पहले अक्टूबर, 2008 में लक्ष्मीनगर, सितम्बर 2008 में चांदनी चौक और जुलाई 2008 में राममनोहर लोहिया अस्पताल के पास भी मेट्रो निर्माण स्थल पर दुर्घटनाएँ हो चुकी हैं, जिनमें बेगुनाह मज़दूर और नागरिक मारे गये थे। छोटी-छोटी दुर्घटनाओं की तो कोई गिनती ही नहीं है। एक घटना में तो मेट्रो के एक डम्पर ने सोते हुए मज़दूरों पर मिट्टी से भरा ट्रक पलट दिया था, जिससे कई मज़दूरों की दबकर मौत हो गयी थी। इन घटनाओं की सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि इस पूरे निर्माण मे किसी की ज़िम्मेदारी तय नहीं हैं ठेका कम्पनियाँ सुरक्षा मानकों का पालन नहीं करती हैं। ऐसे में कोई भी दुर्घटना होने पर सरकार डी.एम.आर.सी पर ज़िम्मेदारी डालती है, डी.एम.आर.सी ठेकेदार पर और ठेकेदार छोटे ठेकेदार या छोटे कर्मचारी को ज़िम्मेदार ठहरा कर पल्ला झड़ा लेते हैं। और बलि का बकरा बनता है एक अदना सा कर्मचारी जबकि हक़ीक़त में मूल ज़िम्मेदारी डी.एम.आर.सी की बनती है क्योंकि डी.एम.आर.सी ही सुरक्षा तन्त्र और ठेका कम्पनियों की निगरानी के लिए जबावदेह है।

श्रम क़ानूनों का यह नंगा उल्लंघन सिर्फ़ निर्माण मज़दूरों के साथ ही नहीं हो रहा है। मेट्रो में काम करने वाले समस्त

ठेका मज़दूरों के श्रम अधिकारों का डी.एम.आर.सी. और ठेका कम्पनियाँ बेशर्मी के साथ मखौल उड़ा रही हैं। कुछ और तथ्यों पर निगाह डालिए। मेट्रो स्टेशनों और डिपो पर काम करने वाले क़रीब 3000 सफ़ाई कर्मचारी नौ ठेका कम्पनियों के तहत काम कर रहे हैं, जिन्हें 2800 से 3300 रुपये तक तनख़्वाह मिलती है, जबकि क़ानूनन उनकी तनख़्वाह 5300 रुपये होनी चाहिए। इस पर जब मज़दूरों ने 'मेट्रो कामगार संघर्ष समिति' बनाकर आन्दोलन किया तो आन्दोलन में शामिल मज़दूरों को डी.एम.आर.सी. और ठेका कम्पनियों ने निकालना शुरू कर दिया। जब इससे भी बात नहीं बनी तो दिल्ली प्रशासन के साथ मिलकर डी.एम.आर.सी. ने उन्हें दो दिनों के लिए जेल में भी डलवाया। यह आन्दोलन अभी भी जारी है।

इस तरह के सैकड़ों आँकड़े गिनाये जा सकते हैं जिसके ज़रिये डी.एम.आर.सी. और ठेका कम्पनियों द्वारा श्रम क़ानूनों, सुरक्षा उपायों और कार्यस्थितियों की उपेक्षा का प्रमाण मिलता है। यह कोई अनजाने में होने वाली उपेक्षा नहीं है। इसके पीछे डी.एम.आर.सी. और ठेका कम्पनियों की मुनाफ़े की हवस और उनका भ्रष्टाचार है। 'मेट्रो कामगार संघर्ष समिति' ने निर्माण मज़दूरों को आन्दोलन में साथ लेते हुए ठेका मज़दूरों के ऊपर हो रहे अन्याय के ख़िलाफ़ प्रदर्शन का रास्ता अख़्तियार किया। जमरूदपुर हादसे पर निर्माण मज़दूरों की **मेट्रो कामगार संघर्ष समिति** के नेतृत्व में बड़ी संख्या में मेट्रो मज़दूरों और मज़दूर अधिकार कार्यकर्त्ताओं ने जन्तर-मन्तर पर प्रदर्शन किया। जमरूदपुर साइट के चालीस मज़दूर ठेकेदारों की धौंसपट्टी के बावजूद प्रदर्शन में शामिल हुए, अपने मारे गये साथियों के इन्साफ़ के लिए आवाज़ उठायी और माँग रखी कि :

1. जमरूदपुर में हुई दुर्घटना की उच्चस्तरीय न्यायिक जाँच हो, न कि डी.एम.आर.सी. द्वारा विभागीय जाँच।

2. दुर्घटना में पीड़ित मज़दूरों और उनके परिवार को डी.एम.आर.सी. भी हरज़ाना दे और साथ ही परिवार के काम करने योग्य सदस्य को नौकरी भी।

3. गैमन इण्डिया को सरकार तत्काल ब्लैकलिस्ट करे।

4. जमरूदपुर की साइट पर काम को जारी रखने की अनुमति देने वाले डी.एम.आर.सी. अधिकारी को तत्काल बरख़ास्त किया जाय, उसके ख़िलाफ़ आपराधिक मामला दर्ज किया जाय और उसके ख़िलाफ़ जाँच करवाई जाय।

5. डी.एम.आर.सी. मेट्रो के निर्माण और प्रचालन में लगे सभी श्रमिकों को श्रम क़ानून प्रदत्त सभी अधिकार दे और श्रम क़ानूनों का उल्लंघन बन्द करे ।

6. मेट्रो में ठेका प्रथा को समाप्त करके सभी मज़दूरों को स्थायी किया जाय।

7. आगे ऐसी दुर्घटनाओं को रोकने के लिए डी.एम.आर.सी. ऐसी प्रणाली बनाए जिसमें ठेकेदारों और डी.एम.आर.सी. के अधिकारियों के प्रतिनिधित्व के अलावा मज़दूर प्रतिनिधि और नागरिक प्रतिनिधि भी हों।

मेट्रो कामगार संघर्ष समिति ने डी.एम.आर.सी. को चेतावनी दी कि अगर मेट्रो प्रशासन मज़दूरों की इन माँगों को नहीं मानता है तो उसके ख़िलाफ़ आन्दोलन को और तेज़ किया जाएगा। मज़दूर डी.एम.आर.सी. और ठेका कम्पनियों के अत्याचार के विरुद्ध चुप नहीं रहेंगे। मेट्रो प्रशासन को इस मामले में कोर्ट में भी घसीटकर लाया जाएगा। मेट्रो मज़दूरों की नारकीय ज़िन्दगी से वाकिफ़ कराने के लिए हम आपको कुछ तथ्यों से परिचित कराना चाहते हैं।

दिल्ली मेट्रो की चकाचौंध के पीछे निर्माण मज़दूरों की ज़िन्दगी में अँधेरा

मेट्रो के मज़दूरों के जीवन की नारकीय तस्वीर – अगर मज़दूरों के काम की परिस्थितियों की बात की जाये, तो वह दिल दहला देने वाली हैं। मेट्रो के दूसरे चरण में 125 कि.मी लाइन के निर्माण के दौरान 20 हजार से 30 हजार मज़दूर दिन-रात काम करते हैं। मज़दूरों से श्रम क़ानूनों को तोड़ते हुए 12 से 15 घण्टे काम करवाया जाता है। इन्हें न तो न्यूनतम मज़दूरी दी जाती है, और न ही साप्ताहिक छुट्टी, ई.एस.आई. और पी.एफ़. तो बहुत दूर की बात है। सरकार और मेट्रो प्रशासन ने दिल्ली का चेहरा चमकाने और कॉमनवेल्थ गेम्स से पहले निर्माण कार्य को पूरा करने के लिए ठेका कम्पनियों को मज़दूरों को जानवरों की तरह निचोड़ने की पूरी छूट दे दी है। मज़दूरों से अमानवीय स्थितियों से काम कराया जाता है। उनके सुरक्षा उपायों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता है। मज़दूरों की जान से खिलवाड़ करते हुए मुनाफ़ा कमाने का यह नंगा खेल लगातार जारी रहता है। इनके सुरक्षा के क्या इन्तज़ाम किये गये हैं यह तो जमरूदपुर में हुई दुर्घटना ने दिखला ही दिया। सुरक्षा के नाम पर इन्हें एक प्लास्टिक की टोपी और फ़्लोरिसेण्ट जैकेट दे दिया जाता है जो इन्हें पत्थर की चोट से भी नहीं बचा सकता। बात सिर्फ़ इतनी ही नहीं है। आज मज़दूर ठेकेदारों के रहमोकरम पर इतना निर्भर है वह कम्पनी द्वारा एक ठेकेदार या आगे उप-ठेकेदारों द्वारा रखे जाते हैं, इन्हें ठेकेदार जॉबर भी कहा जाता है वह अपने गाँव के लोगों को व्यक्तिगत सम्बन्धों के तौर पर लेकर आता है और उनके गाँव की ग़रीबी का फ़ायदा उठाते हैं। जिनकी गिनती 10 से 100 तक भी होती हैं। वह खुद उनके रहने का इन्तज़ाम करता है। इन कमरों में 10 से 15 मज़दूर होते हैं जहाँ पर साफ़ हवा, पानी, बिजली, सीवरेज आदि सुविधायें मज़दूरों को उपलब्ध नहीं जो ज़िन्दगी को ओर अधिक नर्क बना देती हैं, क्योंकि अगर मज़दूर की किसी भी सूरत में अपने हक़ के लिए बात करता है यानि श्रम क़ानूनों व सुरक्षा उपायों को लागू करने के लिए तो तुरन्त डीएमआरसी और ठेका कम्पनी द्वारा उस जोबर को बुलवाकर मज़दूरों की आवाज को दबा दिया जाता है या काम से निकलवा दिया जाता है और जोबर मज़दूरों से जगह खाली करवा लेता है। ऐसे में मज़दूर तुरन्त सड़क पर आ जाते हैं। उनके सामने सीधा अस्तित्व का सवाल खड़ा हो जाता है। या तो वह इसका सामना करने के लिए खड़ा हो या फिर समझौता

कर ले। ज़्यादातर ऐसी परिस्थिति मज़दूरों को झुकने के लिए तथा सब कुछ सहन करने के लिए मजबूर कर देती है। मेट्रो प्रशासन तथा ठेका कम्पनी साफ़ बच निकलती है। मज़दूरों की अपनी कोई यूनियन न होने की वजह से वे सीधे ठेकेदार से हक़ मांगना तो दूर वह कोई सवाल तक नहीं कर पाते।

मज़दूरों की मज़दूरी का भुगतान और पहचान का सवाल – ठेकेदारों द्वारा काम पर रखे गए मज़दूरों में से किसी को भी क़ानूनी रूप से तयशुदा न्यूनतम मज़दूरी और अन्य सुविधा नहीं दी जाती है। मज़दूरों को मिलने वाली मज़दूरी में काफी अन्तर है क्योंकि ये मज़दूरी मनमाने ढंग से ठेकेदारों द्वारा तय की गई है मेट्रो रेल में अकुशल मज़दूरों को 12 घण्टे के काम के लिए 100 से 140 रुपये प्रतिदिन तक दिये जाते हैं जबकि क़ानूनन न्यूनतम वेतन के अनुसार एक अकुशल मज़दूर को 12 घण्टे काम के 284 रुपये मिलने चाहिए। इससे साफ़ है मज़दूरों का उनकी न्यूनतम मज़दूरी से 150 रुपये कम मिल रहे हैं। मज़दूरों को कोई वेतन पर्ची या भुगतान रसीद भी नहीं दी जाती। इस तरह उनके पास अपने रोज़गार या उसकी अवधि का कोई सबूत नहीं होता है। पहचान के नाम पर मज़दूरों के पास हेलमेट और जैकेट होती है वैसे नाम के लिए ठेका कम्पनियाँ कुछ मज़दूर को पहचान पत्र देती भी हैं जो सिर्फ खानापूर्ति होती है क्योंकि इस कार्ड पर न तो मज़दूरों का जॉब नम्बर होता है न ही काम पर नियुक्ति की तिथि होती है दूसरी तरफ़ मेट्रो के लिए काम करनेवाले निर्माण मज़दूरों को डी.एम.आर.सी ने कोई पहचान पत्र नहीं दिया है और वह उन्हें अपना मज़दूर तक भी नहीं मानता। जबकि क़ानूनन मेट्रो के निर्माण से प्रचलन तक में लगे सभी ठेका मज़दूरों का प्रमुख नियोक्ता डी.एम.आर.सी है। जोकि 1971 के ठेका मज़दूर क़ानून का सरासर उल्लंघन है। न्यूनतम मज़दूरी क़ानून, ट्रेड यूनियन एक्ट और वर्क मेन्स कम्पंशेसन एक्ट जैसे क़ानूनों को लागू करवाना प्रमुख नियोक्ता की जिम्मेदारी बनती है।

पारदर्शिता का दावा ठोकने वाली मेट्रो के पहियों और खम्भों में न जाने कितने मज़दूरों की लाश दफ़न है। इसका खुलासा अब धीरे-धीरे हो रहा है मेट्रो का चेहरा अन्दर से कितना क्रूर है इसकी तस्वीर एक दैनिक अख़बार की रिपोर्ट बताती है जिसके अनुसार मेट्रो के दस साल के निर्माण कार्य में 200 से ज़्यादा मज़दूर मारे गए हैं। अब तक हुए मेट्रो हादसे में जब भी एक से अधिक मज़दूरों, कर्मचारियों और लोगों की मौत हुई है तो उस पर हल्ला मचा है। इस हल्ले के शोर को कम करने के लिए मेट्रो ने हर बार मुआवज़े की घोषणा की है। लेकिन दूसरी तरफ़ किसी अकेले मज़दूर, कर्मचारी या राहगीर की मौत होने पर मेट्रो उससे पल्ला झाड़ने में जुट जाता है। इन इक्का-दुक्का मौत पर मुआवज़ा भी नहीं दिया जाता। नांगलोई में मज़दूरों के मरने की बात हो या मन्दिर मार्ग हादसा कहीं भी मेट्रो ने मुआवज़ा नहीं दिया। और यही नहीं 22 जुलाई को इन्द्रलोक-मुंडका लाइन पर मारे गए मज़दूर विक्की की मौत पर भी मेट्रो पल्ला झाड़ता नज़र आया।

ठेका कम्पनियों के प्रति डी.एम.आर.सी की वफ़ादारी- दिल्ली मेट्रो के द्वितीय चरण के निर्माण एवं अन्य कार्यों में क़रीब 215 कम्पनियाँ शामिल हैं, जिसमें एलिवेटेड लाइन के निर्माण में गेमन इंडिया, एल एंड टी, एफ़कॉन, आईडीईबी, सिम्प्लेक्स कम्पनी लगी हुई है जबकि भूमिगत लाइनों के निर्माण में एफ़कॉन, आईटीसीएल, आईटीडी, सेनबो इंजीनियरिंग कम्पनियाँ लगी हुई हैं इन कम्पनियों का उद्देश्य सिर्फ़ लाभ कमाना है, सामाजिक ज़िम्मेदारी से इनका कोई सरोकार नहीं है। यही वजह है कि मेट्रो की कार्य संस्कृति भी सामाजिक सरोकारों से बहुत दूर है। तभी तो मज़दूर के शरीर पर लांचर गिरे, पुल टूटकर मज़दूर को दफ़नाए या ज़िन्दा मज़दूर मिट्टी में दफ़न हो जाए लेकिन मेट्रो निर्माण में लगी कम्पनियों की सेहत पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। जिसका उदाहरण लक्ष्मीनगर हादसे की दोषी एफ़कॉन कम्पनी है क्योंकि लक्ष्मीनगर हादसे के बाद डी.एम.आर.सी ने एफ़कॉन कम्पनी पर 10 लाख का जुर्माना लगाने के साथ ही उसे काली सूची में डाल दिया था, लेकिन फिर भी एफ़कॉन कम्पनी को दूसरे चरण के किसी निर्माण कार्य से अलग नहीं किया गया।

कैग रपट के अनुसार मेट्रो प्रशासन की काली करतूतें

1. मेट्रो रेल फल और लाईन बनाने में प्रयुक्त सामानों की गुणवत्ता की जाँच अवैध प्रयोगशालाओं मे होती है। जाँच के समय डी.एम.आर.सी के अधिकारी भी मौजूद नहीं रहते।

2. रपट में कहा गया कि डी.एम.आर.सी की सीधी जबावदेही न तो केन्द्र सरकार के शहरी विकास मन्त्रालय के प्रति है और न ही साफ़ तौर पर दिल्ली सरकार के प्रति। दूसरी तरफ़ डी.एम.आर.सी पर केन्द्र व राज्य की ओर से कोई नियमित निगरानी तन्त्र का अभाव है।

3. समय पर काम पूरा करने के लिए जाँच के नाम पर होती है खानापूर्ति और जाँच पूरी तरह ठेकेदारों के हवाले।

4. लक्ष्मीनगर हादसे की दोषी एफ़कॉन इण्डिया पर 10 लाख का जुर्माना लगाने के साथ ही उसे काली सूची में डाल दिया था। लेकिन फिर भी एफ़कॉन को दूसरे चरण के काम से हटाया ही नहीं गया।

5. मेट्रो ने सरकार से 14 से 354 फ़ीसद अधिक ज़मीन ली थी लाइन बिछाने के लिए, लेकिन वहाँ बना दिये शॉपिंग मॉल और शोरूम ताकि मुनाफ़ा पिट सके। और एक आरटीआई के जबाव में मेट्रो ने बताया है कि डी.एम.आर.सी एक माह का शुद्ध मुनाफ़ा 17 करोड़ है।

मेट्रो प्रशासन ज़रूरत से ज़्यादा ज़मीनें ख़रीदकर व्यापार कर रहा है। और उसका बर्ताव उसी तरीक़े का है जैसे कि किसी पूँजीपति का होता है। असलियत तो यह है कि डी.एम.आर.सी. मज़दूरों की जान की क़ीमत पर दिल्ली को "विश्वस्तरीय" शहर बनाने में लगा हुआ है। जैसा कि कैग की रिपोर्ट भी बताती है कि मेट्रो प्रशासन सुरक्षा मानकों के साथ खिलवाड़ करता रहा है। ठेका कम्पनियों को मेट्रो प्रशासन ने श्रम क़ानूनों का मखौल उड़ाने की पूरी आज़ादी दे दी है। जिससे बेहद कम मज़दूरी पर सस्ते श्रम को निचोड़ा जा सके। यह अकारण नहीं है कि सारा शासक वर्ग अमीर जमातें और खाता-पीता मध्यवर्ग श्रीधरन के गुणगान करते नहीं थकता।

– अजय

छात्रों-युवाओं के लिए राहुल फाउण्डेशन की कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

नौजवानों के लिए विशेष

1.	नौजवानों से दो बातें	पीटर क्रोपोटकिन	5.00
2.	क्रान्तिकारी कार्यक्रम का मसविदा	भगतसिंह	5.00
3.	मैं नास्तिक क्यों हूँ और 'ड्रीमलैण्ड' की भूमिका	भगतसिंह	5.00
4.	बम का दर्शन और अदालत में बयान	भगतसिंह	5.00
5.	जाति-धर्म के झगड़े छोड़ो, सही लड़ाई से नाता जोड़ो	भगतसिंह	5.00
6.	भगतसिंह ने कहा...(चुने हुए उद्धरण)	भगतसिंह	5.00

क्रान्तिकारियों के दस्तावेज़

1.	भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़	स. सत्यम	200.00
2.	शहीदेआज़म की जेल नोटबुक	भगतसिंह	65.00
3.	विचारों की सान पर	भगतसिंह	25.00

क्रान्तिकारियों के विचारों और जीवन पर

1.	बहरों को सुनाने के लिए (भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और कार्यक्रम)	एस. इरफ़ान हबीब	100.00
2.	क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक विकास	शिव वर्मा	10.00
3.	भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और राजनीति	बिपन चन्द्र	10.00
4.	अमर शहीद सरदार भगतसिंह	जितेन्द्रनाथ सान्याल	75.00
5.	यश की धरोहर	भगवानदास माहौर, शिव वर्मा, सदाशिवराव मलकापुरकर	30.00
6.	भगतसिंह और उनके साथी	अजय घोष, गोपाल ठाकुर	30.00
7.	संस्मृतियाँ	शिव वर्मा	50.00
8.	शहीद सुखदेव : नौघरा से फाँसी तक	स. डॉ. हरदीप सिंह	20.00

प्राप्त करने के लिए संपर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226020

फ़ोन: 0522-2786782, ईमेल: janchetna@rediffmail.com

राहुल फाउण्डेशन से प्रकाशित नौजवानों के लिए कुछ ज़रूरी किताबें

1.	भगतसिंह और उनके साथियों के सम्पूर्ण उपलब्ध दस्तावेज़		200.00
2.	शहीदेआज़म की जेल नोटबुक	भगतसिंह	65.00
3.	विचारों की सान पर	भगतसिंह	35.00
4.	बहरों को सुनाने के लिए (भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और कार्यक्रम)	एस. इरफ़ान हबीब	100.00
5.	क्रान्तिकारी आन्दोलन का वैचारिक विकास	शिव वर्मा	10.00
6.	भगतसिंह और उनके साथियों की विचारधारा और राजनीति	बिपन चन्द्र	10.00
7.	ईश्वर का बहिष्कार	राधामोहन गोकुलजी	20.00
8.	लौकिक मार्ग	राधामोहन गोकुलजी	20.00
9.	धर्म का ढकोसला	राधामोहन गोकुलजी	20.00
10.	स्त्रियों की स्वाधीनता	राधामोहन गोकुलजी	20.00

सम्पूर्ण पुस्तक सूची और पुस्तकें मँगाने के लिए सम्पर्क करें:

जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ-226 020, फ़ोन: 0522-2786782, ईमेल: janchetna@rediffmail.com

विहान आपके बीच आया है एक अँधेरे समय में अँधेरे के बारे में सच्चाइयाँ बयान करते और उजाले की उम्मीदों के गीतों को लेकर

विहान पेश करता है :

उजाले के दरीचे

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़, मुक्तिबोध, शशिप्रकाश, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, पॉल रॉबसन के क्रान्तिकारी गीत

प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें :

जनचेतना, डी-68, निराला नगर, लखनऊ

फोन : (0522) 2786782

विहान, बी- 100, मुकुन्द विहार, करावल नगर, दिल्ली-110094 फोन (011) 65976788

क्या जुल्मतों के दौर में भी गीत गाये जायेंगे
हाँ, जुल्मतों के दौर के ही गीत गाये जायेंगे।
— बेर्टोल्ट ब्रेष्ट

Side A:

1 शहीदों के लिए — शशिप्रकाश
2 दरबारे-वतन में — फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
3 आँधी के झूले पर झूलो — गजानन माधव मुक्तिबोध
4 साथियों! आगे बढ़ो — शशिप्रकाश
5 तोड़ो ये दीवारें — शशिप्रकाश
6 चलो फिर से मुस्कराएँ — फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
7 जारी है — सर्वेश्वर दयाल सक्सेना
8 पैसा — विहान टोली

Side B:

1 सिपाही का मर्सिया — फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
2 रहबरे-मुल्को कौम बता — फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
3 बीस्तीर्णो दुपारेर — पॉल रोब्सन
4 रउरा सासना के बाटे ना — गोरख पाण्डेय
5 दुनिया के हर सवाल के — शशिप्रकाश
6 इन्तेसाव — फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
7 हम मेहनतकश — फ़ैज़ अहमद फ़ैज़
8 युद्धबन्दियों का गीत — शशिप्रकाश
9 इण्टरनेशनल — यूजीन पोतिए

विहान टोली

मुख्य स्वर और इलेक्ट्रिक एवं अकाउस्टिक गिटार — *अभिनव*
स्वर एवं ढपली — *तपीश* तबला — *नवकिशलय*
सहायक स्वर — *पवन, प्रसेन, अजय, लता, योगेश, विजय और गौरव*

कैसेट (90 मिनट) - रु. 60, ऑडियो सीडी - रु. 125

ईमेलः vihaan@betarecords.com
वेबसाइटः www.betarecords.com/vihaan

RNI No. DELHIN/2008/26966

शहरी रोज़गार गारण्टी अभियान

रोज़गार का हक़ आम जनता का जन्मसिद्ध अधिकार है, चाहे वह गाँवों में रहती हो या शहरों में। यह सवाल और भी प्रासंगिक नज़र आता है जब हम कुछ बुनियादी आँकड़ों पर निगाह डालते हैं। आज शहरों में बेरोज़गारी गाँवों के मुकाबले कहीं तेज़ रफ़्तार से बढ़ रही है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक आज शहरों में बेरोज़गारी की वृद्धि दर करीब 10 प्रतिशत है। गाँवों में यह 7 प्रतिशत से भी नीचे है। शहरों में काम करने योग्य हर 1000 लोगों में से महज़ 337 लोगों के पास रोज़गार है, जबकि गाँवों में यह संख्या 417 है। शहर के कुल युवाओं में से 60 प्रतिशत बेरोज़गार हैं जबकि गाँवों में यह हिस्सा 45 प्रतिशत है। शहरी भारत में हर वर्ष 1 करोड़ नये बेरोज़गार जुड़ते हैं जो काम की तलाश में रहते हैं। शहरी भारत में काम करने वाले योग्य लोगों की आबादी करीब 3 प्रतिशत प्रति वर्ष की रफ़्तार से बढ़ रही है, जबकि रोज़गार पैदा होने की बात तो दूर, वे तेज़ी से घट रहे हैं। शहरों में जो आबादी रोज़गार प्राप्त है उसमें से करीब 40 प्रतिशत ठेका, दिहाड़ी या पीस रेट पर काम कर रही है और उसे साल के आधे समय भी रोज़गार प्राप्त नहीं होता।

...हम सभी शहरी ग़रीबों और बेरोज़गारों और साथ ही इंसाफ़पसन्द नागरिकों का आह्वान करते हैं कि शहरी रोज़गार गारण्टी योजना के लिए सरकार को झुकाने के लिए एक आन्दोलन खड़ा करें।

हम भारत की सरकार से माँग करते हैं:

1. नरेगा की तर्ज़ पर शहरी बेरोज़गारों और ग़रीबों के लिए शहरी रोज़गार गारण्टी योजना बनाए और उसे लागू करे।

2. इस योजना के तहत शहरी बेरोज़गारों को साल में कम से कम 200 दिनों का रोज़गार दिया जाय।

3. इस योजना में मिलने वाले काम पर न्यूनतम मज़दूरी के मानकों के अनुसार भुगतान किया जाय।

4. इस योजना के तहत रोज़गार न दे पाने की सूरत में बेरोज़गारी भत्ता दिया जाय जो जीविकोपार्जन के न्यूनतम स्तर को क़ायम रख पाने के लिए पर्याप्त हो।

5. इस योजना को पूरे भारत में लागू किया जाय।

ऐसी योजना के लागू होने पर शहरों में विकास के कार्यों को तेज़ी से पूरा किया जा सकता है और साथ ही करोड़ों की संख्या में बेरोज़गारों को रोज़गार दिया जा सकता है। हम मानते हैं कि यह बेरोज़गारी और ग़रीबी की समस्या का स्थायी समाधान नहीं है, फिर भी यह करोड़ों लोगों को भुखमरी, अर्द्धभुखमरी और आत्महत्या के दलदल में गिरने से रोक सकता है। इस समस्या का समाधान तो हर व्यक्ति को स्थायी रोज़गार द्वारा सामाजिक और आर्थिक सुरक्षा देने के ज़रिये ही किया जा सकता है। लेकिन फिलहाल 200 दिनों के रोज़गार की माँग आज एक वाजिब मध्यवर्ती माँग है और यह भारत के हर नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है। **यदि सरकार लोगों को रोज़गार, शिक्षा, चिकित्सा और आवास जैसी बुनियादी चीज़ें नहीं दे सकती है तो वह किसलिए है?क्या सिर्फ़ कारपोरेट घरानों और पूँजीपतियों की सेवा के लिए?**

हमें अपने इस अधिकार को लेने के लिए हर कीमत देकर संघर्ष करना होगा! वरना, आने वाले समय में महँगाई, भुखमरी, कुपोषण के हाथों जान गँवाने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचेगा! **इसलिए शहरी रोज़गार गारण्टी के हक़ के लिए एकजुट हो जाओ! आगे आओ! संघर्ष करो!**

हर हाथ को काम दो! वरना गद्दी छोड़ दो!

शिक्षा और रोज़गार! हमारा जन्मसिद्ध अधिकार!

दिशा छात्र संगठन और नौजवान भारत सभा
की ओर से चलाये जा रहे शहरी रोज़गार गारण्टी अभियान के पर्चे के अंश